जीव यात्रा

सपादक
फुलिपाटि वेंकट सुब्बय्या, एम. ए , बी इडि
प्राध्यापक—गवर्नमेन्ट कालेज आफ एजुकेशन, महबूबनगर

1972

पहली बात

दर्शन के सम्बन्ध मे असख्यक पुस्तके छपी पडी है। फिर यह नई पुस्तक क्यो ? यह प्रश्न प्रप्रथम पाठक के हृदय मे उत्पन्न होता है। मेरे मन मे भी यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था। मेरे विचार मे दर्शन जीवन का एक अभिन्न अग है और उसे समझने पर जीवन मे एक तरह की रुचि एव शाति का अनुभव होता है। जीवन के सच्चे स्वरूप का दर्शन होता है जिससे जीवन रसमय तथा आनन्दमय बन जाता है। परतु कई ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका अध्ययन करने से मस्तिष्क चकरा जाता है और विषय को समझने मे भारी परिश्रम की आवश्यकता होती है। एक सिनिमा मे मैंने यहाँ तक सुना कि जो विषय बोलनेवाले तथा सुननेवाले को समझ मे नही आती है—उसको वेदान्त या दर्शन शास्त्र कहते है। इन सारी बातो से मेरे हृदय तीव्र प्ररणा हुई कि मैं एक ऐसी पुस्तक लिखूं जिससे दर्शन शास्त्र का परिचय सरल रूप मे सभी जनता को हो।

"केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथानियुक्तोस्मि तथा करोमि" की उक्ति ने मुझे इस चेष्टा मे प्रवृत्त बना दिया। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ को पढने से दर्शन के सम्बन्ध मे स्पष्ट परिचय होगा एव जीवन को सफल बनाने का मार्ग पाठक को आकर्षित करेगा। परन्तु विज्ञजनो का निर्णय ही इसका निकषोपल होगा। विद्वज्जनो से मेरी यह प्रार्थना है कि वे इसे पढने के पश्चात् अपनी राय देने की भी कृपा करे।

जीवन मे सभी व्यक्तियो का एकमात्र लक्ष्य है—दुःख निवृत्ति एव आनन्द की प्राप्ति। केवल मनुष्य ही नही प्राणिमात्र की यह उत्कट अभिलाषा है। मनुष्य को छोडकर अन्य सभी प्राणी भोग जन्म हैं, प्रारब्ध के वशीभूत होकर जीवन को परवशता मे व्यतीत करते हैं। परन्तु मानव जन्म की ऐसी बात नही है। यह तो प्रारब्ध को अपने इच्छित रूप मे

निर्माण कर सकता है। अपनी इच्छा शक्ति के बल से उत्तम कार्यचरण कर जीवन को सफल एव कल्याणमय बना सकता है।

आज मानव केवल भौतिक सुख और भोगो के पीछे पडा हुआ है। धनी तथा अधिक वेतन पानेवाले व्यक्ति अपने धन को खर्च करने का ठीक मार्ग नही जानते। केवल स्त्री, ताश और पीने की लत मे धन को खर्च करते हैं। क्लबो मे जाते हैं और मनबहलाव के लिए दुर्व्यसनो मे समय बिताते हैं। इसका परिणाम कितना घातक है! यह सब जानते हैं। ऐसा जीवन समाज के लिए केवल निरुपयोगी ही नही हानिकारक भी है। यदि इन लोगो का समय तथा धन निर्माणात्मक कार्यों मे लगावें तो देश सपन्न भी होगा एव नैतिक वृद्धि भी होगी। सच पूछा जाय तो ऐसे ही आदर्श जीवन मे सच्चे सुख की उपलब्धि हो सकती है। स्वार्थ एव इद्रियो के व्यसन भोगों मे कभी वास्तविक सुख की अनुभूति नही हो सकती।

किसी घर मे पति-पत्नि दोनो बडे ही प्रेम पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। एक बार पत्नि को बिच्छू ने डक मारा तो वह रोने लगी। पति डाक्टर के पास दौडकर गया और दवा पूछी। डाक्टर ने दवा देते हुए कहा कि वृश्चिक दशन के स्थान पर यह दवा डालो। वह भागता हुआ घर आया और पूछने लगा "अरी, बिच्छू ने कहाँ काटा ?" पत्नि ने कहा "उस दीवार के कोने मे जी।" यह सुनकर पति महाशय दवा ले जाकर दीवार के कोने मे डालने लगा। क्या इससे वृश्चिक दशन की पीडा कभी कम हो सकती है ? आनन्द की प्राप्ति के लिए भोगो मे तथा दुरभ्यासो मे लिप्त जनता का प्रयत्न इसी तरह हास्यास्पद है। मेरी हार्दिक प्रार्थना देश के सभी लोगो से है कि इस विषय पर गभीर होकर सोचे, समझे और जीवन के सस्करण मे प्रवृत्त होवे।

मेरी आशा है कि इस पुस्तक को य द ध्यान पूर्वक अध्ययन करे तो मनुष्य अवश्य अतर्मुखी बनेगा और अपने को सुधारने मे दत्तचित्त होगा। इसी विश्वास ने मुझे इस कार्य मे प्रेरित किया है।

मैं ने पहले इस पुस्तक को तेलुगु मे लिखा था। इस को देखकर कई मित्रो ने हिन्दी मे भी इसे लिखने का आग्रह किया है। ससार मे

सभी कार्य धनमूल होते है। इस पुस्तक के लिए एक हजार रुपये खर्च हुए हैं। यहाँ इस 'महबूबनगर' (आन्ध्रा) मे श्री कन्यकापरमेश्वरी-मन्दिर है। लगभग एक साल से प्रतिदिन भगवद् गीता पर प्रात काल मे सत्संग चलता है। एक दिन प्रवचन के पश्चात् मैंने उपस्थित सज्जनो के सामने पुस्तक को छपाने की बात सुनाई। यह तो तेलुगु भाषा मे छपाने का ग्रन्थ नही है। हिन्दी बहुत कम लोग जानते हैं। फिर भी उन्होने मेरी बात पर इतना गौरव दिखाया कि उसी समय पर्याप्त धन देने को तैयार हुए। शीघ्र ही पुस्तक को छपवाने का प्रबन्ध किया गया। मैं इन सभी उदार व्यक्तियो को धन्यवाद देता हूँ। दाता जनो के नाम भी निम्नाकित है।

मैं सर्व प्रथम पूज्य श्री स्वामी चन्द्रशेखरानन्द जी को विनीत एव हार्दिक आभार निवेदन करता हूँ जो मेरे इस प्रेरणादायक हैं और जिन्होने "योगवेदात" मासिक पत्रिका मे इस पुस्तक को लेखो के द्वारा सुन्दर रूप देकर छपवाया था। ये महात्मा "योग वेदांत" के एडिटर हैं तथा ऋषि-केश श्री शिवानन्दाश्रम मे रहते हैं। उसी शिवानन्दाश्रम मे रहने वाले पूज्य श्री अशेषानन्द स्वामी जी का भी पुण्यस्मरण करता हूँ जिन्होने इस सम्बन्ध मे मुझे उचित सूचनाएँ देकर कृतकृत्य किया है।

अन्त मे डाक्टर रामनिरजन पाडे जी (Head of the Hindi Department, Osmania University) एव पूज्य श्री गोल्लापिन्नि राम-चन्द्र शास्त्री जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होने ग्रन्थ का अध्ययन करके अपने अमूल्य अभिप्राय दिये हैं।

पुलिपाटि वेकट सुब्बय्या

दाता जनो की सूची

1	श्रीमान गन्ध्र नरायण गुप्तजी मन्स, ,, कल्कोडा रामचन्द्रय्याजी ,, कदि वालकिष्टय्या जी	176-00
2	महबूबनगर आर्यवैश्य सघ	150-00
3	श्रीमान ऐन्निमेट्टि रामुलु जी	116-00
4	,, कलकोड वालकृष्णय्या रामलक्ष्मय्याजी	56-00
5	,, विल्लकटि वेंकटय्या जी	51-00
6	,, कुन्चकूरि वुच्चन्ना जी	31-00
7	,, गुब्बा राजपुल्लय्या हन्मनय्या जी	30-00
8	,, आकारपु वेंकटय्या चौदरी गौडजी	30-00
9	,, चिदुरे रामुलु जी	30 00
10	,, नन्दिपेट कौकुन्टल रामुलु जी	30 00
11	,, पेन्ड्याल सदाशिवुडु जी	28-00
12	,, म्यन्टे रामुलुजी उप्पटूरु	25-00
13	,, वलकोड प्रभुलिंगम जी	25-00
14	,, मिगसेट्टि चन्द्रय्या जी	25-00
15	,, गुब्बा मल्लय्या जी	25-00
16	,, मुदि नारायण जी	25-00
17	,, कान्नुपल्लि वालकृष्णय्या जी के सुपुत्र	21-00

18	,, कदूरि वेकटय्या जी	16-00
19	,, ए राधाकिषन जी आक्षनर	13-00
20	,, दड्ड त्रिट्ठलय्या जी	11-00
21	,, कुचकूरि जबुलय्या जी	11-00
22	,, कुचकूरि नारायण जी	11-00
23	,, यन्मनगन्ड्ल लक्ष्मय्या, रामुलु जी	11-00
24	,, मेडिसेट्टि नरसिंहुलु जी	11-00
25	,, राचाल ए नारायण जी	11-00
26	,, आकुतोट बालस्वामी जी	10-00
27	,, भीमय्या जी (टीचर)	10-00
28	,, दड्ड सुदर्शनम् जी	10-00
29	,, मेडिसेट्टि शिवरामुलुजी	5-00
30	,, नील वीरय्या जी	5-00
31	,, टि किष्टय्या गौड	5-00

——

नमः परम गुरुभ्यः

निर्वहण कर स्वय नवादित्त ज्ञान को उदार भाव से सद्विनियोग करके कृत कृत्य हुए हैं। इसके द्वारा पाठक जान सकते हैं कि ग्रन्थकर्ता की साधना एव अभ्यास कितने क्रम बद्ध और फलप्रद हैं।

ईस्वी सन् १९६९ मे आन्ध्र भाषा मे यह पुस्तक छपी थी और केवल उसी रचयिता से यह हिन्दी मे अनूदित होकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत हुई है। यह बहुजनोपकारी है। अत देश की सभी भाषाओ मे अनुवाद होकर सभी स्तर के लोगो के लिए पढने योग्य ग्रन्थ है।

खासकर अन्तर्जातीय भाषा अग्रेजी मे इसका भाषातरीकरण हो तो भारतीय विज्ञान स्वरूप को जानने की उत्कट कामना रखने वाले विदेशियो को यह महोपकारी सिद्ध हो सकती है। हमारी इच्छा है कि विश्वकवि रवीन्द्र की तरह वह काम भी ग्रन्थकर्ता स्वय कर दें। 'एकक्रियाद्वयर्थकरी" के अनुसार इस प्रयत्न मे परोपकारी भावना के साथ साथ निरन्तर मनन से दृढबोध की सिद्धि भी होती है। सतत ब्रह्माभ्यास का साधन तो यही होता है।

वेदान्त पचदशी के तृप्तिद्वीप मे विद्यारण्य महर्षि का कथन है— "तच्चिंतन तत्कथन अन्योन्यतत्प्रबोधनम् एतदेकपरत्वच,ब्रह्माभ्यास विदुर्बुधा" आशा है कि ऐसी ही उत्तम कृतियो को लेखक और भी प्रणयन करें जिससे विश्व का श्रेय सपन्न हो।

"अनिकल्याण रत्वात् नित्य कल्याण सश्रयात् स्मर्तृणा वरदत्वान्च ब्रह्मात्मगतपरम् "

ॐ तत्सत्

पोल्लापिन्नि रामचन्द्र शास्त्री

सन्दर्शन

जगत् मे रहनेवाला जीव अपनी अनन्त यात्रा के पथ पर चल रहा है। देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को साथ लेकर वह इम यात्रा-पथ पर आरुढ है। जव तक उमकी यह यात्रा समाप्त न होगी तव तक जीव पूर्ण न होगा। इस यात्रा की ममाप्ति पर वह अनन्त परमात्मा को प्राप्त करके स्वयं अनन्त वन जाता है। "जीव यात्रा" पुस्तक के लेखक ने यह वात समझाने का मफल प्रयत्न किया है कि पथ पर चलने के ममय यदि साथी, सहयोगी का काम न करे तो यात्रा पूरी न हो मकेगी। पथिक अपने पथ पर वाधाओ से ही जूझना रह जायगा।

देह, इन्द्रिय, मन और वुद्धि, जीव यात्रा के पथ पर जीव के साथ-साथ चलते रहते हैं। जीव इन्ही के सहारे अपने गन्तव्य तक पहुँचना चाहता है, परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है—अयवा अपनी क्षुद्र सीमाएँ तोडकर स्वय अनन्त वन जाना चाहता है। इस लक्ष्य की पूर्ति मे देह, इन्द्रियाँ, मन और वुद्धि तव तक वाधा पहुँचाते रहते हैं जव तक उनमे सात्त्विकता की स्थापना नही हो जाती। सत्त्व-प्रधान देह, मन और वुद्धि ही सात्त्विक अनुभव संग्रह करनेवाली इद्रियो के साथ जीव को परम सत्त्व से विभूषित परमात्मा तक पहुँचा सकते हैं। सात्त्विक आहार से ही देह, इन्द्रियाँ, मन और वुद्धि अपने सात्त्विक स्वभाव की प्राप्ति करते हैं और जीव को यात्रा के पथ पर अग्रसर करते हुए परमात्मा तक पहुँचा देने मे सफल होते हैं।

साम्प्रतिक युग का मानव अपने आहार की शुद्धता और सात्त्विकता को भूल चुका है। इसीलिए उसका शरीर उसकी इन्द्रियाँ तथा उसके मन और वुद्धि रजोगुणी और तमोगुणी हो गये है। वह पूरे जगत् मे युद्धरत हो गया है।

यदि हम आज के जीव का उद्धार करना चाहते हैं तो सुब्बय्या जी के 'जीव यात्रा' ग्रन्थ के समान ग्रन्थो को प्रत्येक मनुष्य के हृदय तक हमे पहुँचाना होगा। जीवयात्रा की भाषा सुन्दर है और सुन्दर चिन्तन का विवेचन भी सुन्दर ढग से किया गया है। यह पुस्तक प्रत्येक पुस्तकालय मे प्रत्येक पढनेवाले के सामने रखी जाय और उसे पढने के लिए प्रेरित किया जाय। "जीवयात्रा" के समान पुस्तके बडे चिन्तन के पश्चात् ही लिखी जा सकती है। "जीवयात्रा" लिखने की सफलता पर मैं सुब्बय्या जी को साधुवाद धन्यवाद और बधाई अर्पित करता हुं।

रामनिरजन पाडे
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, उस्मानिया यूनिवर्सिटी
हैदराबाद-आ. प्र

ता 20-6-72

जीव यात्रा

यात्रा शब्द का अर्थ अपने लक्ष्य स्थान तक पहुँचने के लिए किया जानेवाला प्रयास है। जीवयात्रा शब्द से हम जान लेते हैं कि जीव को एक निश्चित स्थान पर पहुँचना है। अतः वह स्वयं यात्रा कर रहा है। जीव कौन है? उसका गतव्य स्थल क्या है? यात्रा करने के लिए उसने किस तरह के साधनो को प्राप्त कर लिया है? आदि-आदि प्रश्न विचारणीय है। इन प्रश्नों के समाधान विज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना ही मेरा ध्येय है।

भगवद्गीता मे भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि "ममैवांशो-जीवलोके जीवभूतस्सनातनः" अर्थात् "जीवलोक मेरा ही एक अंश है और वह सनातन है।" इससे हमे ज्ञात होता है कि जीव का अपना मूलस्थान परब्रह्म ही है।

वह वही जाकर पूर्ण शाति को प्राप्त करने के लिए यात्रा कर रहा है। जिस तरह हम घर से अन्य स्थान पर जाते है और भले ही हमारे आदर सत्कार करने वालो की वहाँ कमी नही हो फिर भी घर पहुँचने के लिए हम व्यग्र रहते हैं तथा घर पहुँच कर ही स्थाई शाति का अनुभव करते हैं। ठीक उसी तरह जीव अपने स्थान (परब्रह्म) से पृथक हुआ है और अपने मूलस्थान की प्राप्ति के लिए आकुल है। जब तक वह अपने स्थान परमात्मा से जाकर नही मिलता, तब तक उसको चिर प्रसन्नता तथा परम आनन्द प्राप्त नहीं होता। परन्तु दैन्य की बात है कि वह माया के अधीन होकर देह एव कर्म से बधित हुआ है।

देह वद्धता का अर्थ है कि देह को अपना स्वरूप समझना। वास्तव मे देह मानव का स्वरूप नही है। मनुष्य कभी-कभी कहता है कि मेरा शरीर स्वस्थ नही है। जब वह शरीर को "मेरा शरीर" कहता है तो वह स्वय शरीर कैसे हो सकता है ? "मेरी पुस्तक" कहने से मैं पुस्तक थोडे ही होता हूँ। मैं पुस्तक से भिन्न हूँ अत मेरी पुस्तक कहता हूँ। उसी तरह 'मेरा शरीर' कहने से मैं शरीर नही होता हूँ। इसकी जिज्ञासा सदर्भ के अनुसार अन्यत्र विवरण के साथ की जायगी परन्तु तात्पर्य यह है कि मैं शरीर नही हूँ मैं आत्माश हूँ। देह, इद्रियाँ, मन, वुद्धि जड हैं और इनको चेतनता प्रदान कर चैतन्य वनानेवाला मैं आत्म स्वरूप हूँ। भगवद्गीता की भाषा मे मैं क्षेत्रज्ञ हूँ। इस तरह जानना भी एक तरह का उत्तम योग है। भगवद्गीता मे

इसी को क्षेत्र क्षेत्रक्ष विभाग योग कहा गया है। क्षेत्रज्ञ किसान है और क्षेत्र अर्थात् शरीर खेत है। शरीर को क्षेत्र और उस क्षेत्र का मालिक अपने को गभीर रूप मे समझना चाहिए। मालिक अपने क्षेत्र मे किस तरह के बीज बोने चाहिए – इस सम्वन्ध मे अच्छा ज्ञान रखता है। यहा पुण्य रूप बीज बोकर आनन्द रूपी फल प्राप्त कर सकता है। इस विपय के वारे मे भी आगे अच्छी तरह विवेचना होगी।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग का ज्ञान सबको नही होता है। यही अविद्या या अज्ञान का प्रभाव है। देह को अपना स्वरूप समझना अज्ञान का प्रथम लक्षण है। जव मनुष्य देह को ही अपना स्वरूप समझता है तो उसको सुख पहुँचाने वाले भोगो को अपने लिए आवश्यक समझता है। इसी भ्रम से सब अनर्थ उत्पन्न होते है। इस तरह देह वद्धता या कर्म बद्धता जीव को जव तक रहती है तब तक नित्य शाति असभव होती है। इन दोनों वन्धनो से विमुक्त होना ही मुक्ति कहलाती है। इस मुक्ति की अवस्था मे जीव अपने उद्गम स्थान परमात्मा मे तादात्म्य हो जाता है। उसी को सद्गति कहते है। इस तरह की सद्गति से ही मानव को नित्य शाति एव परमानन्द की प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

देह वद्धता की अवस्था मे किसी जीव को नित्य सुख की उपलव्धि नही होती। सृष्टि में दृष्टि डालिए और देखिए। धनी,-दरिद्र, राजा-रक, स्त्री-पुरुप सभी अज्ञान है देहभावना से

परिलिप्त होना ही इसका एक मात्र कारण है। जीव अपने मूल स्थान को भूल गया है, परिणामतः अशाति से आकुल हैं। यदि सच्ची शाति एव चिरतृप्ति को प्राप्त करना है तो जहाँ से निकला है जीव को वही जाना होगा।

नदियो की तरफ दृष्टि डालिए उनका उद्गम स्थान समुद्र है। सूर्य की किरणो से भाप बनकर समुद्र का पानी आस्मान पर पहुँचा। वहाँ से मेघ मे परिवर्तित होकर पानी के रूप मे बरसता है। फिर नदियो के रूप मे समुद्र मे जाकर विलीन होता है। समुद्र में मिलकर ही उसकी महायात्रा समाप्त होती है। जब तक नदी समुद्र मे नही मिलती तब तक वह भिन्न-भिन्न नामो से व्यक्त होती है। परन्तु समुद्र मे मिल कर अपने नाम रूप खोकर वह स्वय समुद्र का अतर्भाग बन सकती है। इसी तरह जीव भी जब तक कर्म वश होकर शरीरधारी रहता है तब तक कई नामो से व्यवहृत होता है। किन्तु जब परमात्मा मे तदात्म्य होता है तब वह भी ब्रह्म बन जाता है। "जीवो ब्रह्मैव नापर" यह प्रमाण है। तभी उसे नित्य शाति नित्यानन्द के एकरस भाव का अनुभव प्राप्त होगा। ऐसा जीव फिर जन्म मरण चक्कर मे गिरता नही "न स पुनरावर्तते" वह फिर आता नही है। उसके जन्ममरण की समस्या सदा के लिए सुलझ जाती है।

जीव अपने मूल स्वरूप से मिलने के लिए सुखान्वेषी वत् यात्रा कर रहा है और एक यात्री की भाति आयाम विश्रामो के

सहारे उसे चलना पडता है। टिकट खरीद कर जब यात्री रेलगाडी मैं बैठ जाता है तब चाहे वह सोता रहे, बैठा रहे, या बातचीत करता रहे इससे गाड़ी को कोई मतलब नही। वह तो बराबर चलती ही रहती है। कहाँ तक ? स्टेशन तक। ठीक इसी प्रकार जीव भी देह रूपी रेल पर चढ जाता है। वह रेल प्रतिक्षण भागती जाती है। पल भर के लिए भी रुकती नही है। कभी-कभी मनुष्य कहता है कि आज मैंने कुछ नही किया, खाली ही बैठा रहा। किन्तु ध्यान रहे कि देह रूपी गाडी का गमन तो बराबर जारी है। इस देह रूपी गाडी का स्टेशन क्या है ? यह सदा स्मरणीय है। क्योकि इसका नाम 'श्मशान' है। इस स्टेशन मे राजा, रक, पंडित, मूर्ख, सबके लिए समान स्थान है। कोई भेद या अन्तर नही है।

श्मशान रूपी स्टेशन पर पहुँचने के पश्चात् जीव को कहाँ जाना होगा ? यह तो हमारे अनुभव की बात है कि रेल्वे स्टेशन पर उतरनेवाले सभी पथिक अपने-अपने गतव्य स्थल को जानकर सीधा वहाँ चले जाते है। जो लोग नही जानते वे अपने पास के कागज पर लिखे पते को लोगो से पूछ कर लक्ष्य स्थान पर जा पहुँचते है। किन्तु श्मशान रूपी स्टेशन पर पहुँचने के पश्चात् जीव को अपने गतव्य स्थान का पता स्मरण नही रहता। अत वह बहुत कठिनाई में पड जाता है। ज्ञानी लोग देह रूपी साधन से मरणकाल से लिए परमात्म-चितन का अभ्यास कर उसमें लीन रहते हैं। स्मरणाभ्यास के बल से जीव मरणो-

परान्त भी अपने लक्ष्य को विस्मुत नही करता और वही परमात्म स्मरण का अभ्यास उसे अपने लक्ष्य स्थान (परब्रह्म) की स्मृति दिलाता है तथा वह परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है। किन्तु, सभी जीव बिना सुकृत के इस अच्छी गति को प्राप्त नही होते। भगवान श्रीकृष्ण कहते है —

"जरामरण मोक्षाय मामाश्रित्य यतति—ये
ते ब्रह्म तद्विदु कृत्स्न अध्यात्म कर्म चाखिलम्

(गीता 7–29)

अर्थात् जो लोग जरा और मरण-युक्त इस मानव जन्म से सदा के लिए छुटकारा पाने को मेरे आश्रय मे आकर प्रयत्न करते है। वे ही लोग मुझे अच्छी तरह जानते है। ऐसे ज्ञानी लोग ही मरणकाल मे मेरा स्मरण करते हुए दिव्य-गति को प्राप्त होते है।

मानव जीवन के लिए मरण-काल एक सच्ची कसौटी है। उस समय अपने जीवन-काल मे आर्जित भले बुरे सस्कार उसे प्राप्त होते है। कृत्कर्मो के अनुसार उस समय उसकी स्मृति वैसी ही बनती है और स्मृति के अनुसार उसी गति को प्राप्त करता है। भगवान का कथन है —

"ययवाऽपि स्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित"

(गीता 8–6)

इसका अर्थ है कि प्रयाण-काल में मानव जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोडता है उसके अनुसार वह उसी स्थिति को प्राप्त करता है। अत. उस समय किस तरह का स्मरण रहना चाहिए ? भगवान का आदेश है :—

"अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्
य: प्रयाति स मद्भाव याति नास्त्यत्र संशय
(गीता 8–5)

अन्त काल मे भी जो व्यक्ति मेरा स्मरण करता हुआ शरीर छोड देता है वह मेरी ही स्थिति को प्राप्त होता है। इसमें कुछ भी सन्देह नही है।

इसलिए मरण काल मे परमात्मा का ही पावन नाम स्मरण करना चाहिए। किन्तु उस समय ऐसा स्मरण विना पूर्वाभ्यास के नही होता। माया का मोहरूपी प्रचन्ड अधकार जीव को मरण-काल में घेर लेता है। माया का अभिनय उस काल मे वहुत ही वलवान होता है। मन, वुद्धि और अहंकार सहित जीव के सभी चेतन-समूह विषण्ण होकर विकल अवस्था मे किकर्तव्य विमूढ हो जाते है। अत. यदि उस समय पर भगवान को स्मरण करने की शक्ति आर्जित करनी हो तो जीवन भर नाम स्मरण के साथ परमात्म स्वरूप के चितन का अभ्यास कर लेना चाहिए। साधना का वल यदि तीव्र रूप से रहा तो उस समय भगवद् स्मरण अनायास ही सम्भव हो सकता है।

इस सम्बन्ध मे एक छोटी सी वास्तविक घटना है —एक गाँव मे एक बार एक सन्यासी आया। रात होने के कारण एक बुढिया के घर मे रात भर रहने की अनुज्ञा पायी और सो गया। प्रात होने के साथ वह बुढिया अपने पोतरे से कहने लगी "बच्चे, सुना कि हमारी पिछली गली मे एक मनुष्य का देहात हुआ है। जाकर मालूम करके आओ कि वह भगवान के पास गया है कि नही।" यह बात सुनकर वह सन्यासी भौचक्कासा रह गया और उद्विग्न हुआ। थोडे ही समय में वह लडका आया और सुनाया कि वह भगवान के पास ही गया है। बुढिया का उस तरह कहना और लडके का इस तरह समाधान देना ये दोनों उस सन्यासी के समझ मे नही आया। झट उसने बुढिया के पैरो को पकड कर पूछने लगा कि यह बात इतनी सरलता के साथ कैसे जान सके ? जब तक यह रहस्य मुझे नही बतायेगी तबतक मैं पैरो को छोड़ूंगा नही। तब बुढिया बताने लगी "इसमे कठि-नाई क्या है ? शरीर को छोडते समय जीव यदि भगवान का नामोच्चरण करता है तो वह भगवान के पास पहुँच गया, नही तो उसकी गति दयनीय हो जाती है। यह सुनकर सन्यासी हक्का-बक्का सा रह गया।

यदि कोई समझे कि मरणकाल मे ही एक मिनट भगवत्-स्मरण करलेंगे तो पर्याप्त होगा। इसके लिए जीवन भर अभ्यास करने की क्या अवश्यकता है ? ऐसा सोचने मे बहुत ही अनर्थ होगा। यदि विद्यार्थी वर्ष भर अध्ययन न करके परीक्षा-भवन मे

जायगा तो वह क्या उत्तर लिख सकेगा ? मरण-काल भी जीव का परीक्षा-समय हैं। उसमें सफलता की प्राप्ति के हेतु जीवन भर अभ्यास करना पडता है। भगवान ने कहा :—

"तस्मात्सर्वेषुकालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनो बुद्धिर्मामेवैष्यस्यसशयम्: ॥"
(गीता 8-7)

इसी कारण सर्वथा मेरा स्मरण करते रहो। इस तरह करते रहने से अपने अगो सहित मन को सभी अवस्थाओ मे स्मरण करने की आदत पड जाती है। मेरा स्मरण करते करते मन और बुद्धि मेरे लिए अर्पित हो जायेगे, जिससे तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे।

हमेशा भगवान का स्मरण करते रहने के उद्देश्य से ही सन्ध्यावन्दन, भजन आदि क्रियाये बतायी गई है।

सन्ध्यावन्दन का अर्थ है सधि (सक्राति) काल मे किया जानेवाला वन्दन (प्रार्थना)। यदि ध्यान से देखा जाय तो मनुष्य के लिए मरण-काल ही वास्तविक सन्ध्याकाल है। क्योंकि जीव का एक शरीर से प्रारब्ध कर्म को पूर्ण कर दूसरे शरीर को धारण करने के लिए उद्यत होनेवाला वह सक्राति (सन्धि) काल है। इस कारण मनुष्य को नित्य उस समय पर सर्वेश्वर का जप, ध्यान आदि चितन (सन्ध्यावन्दन) करना चाहिए। यही सन्ध्या-

वन्दन का साध्य है और इसी साध्य के लिए की जानेवाली जीवन भर की उपासना या साधना एकमात्र साधन है। अतः जीवन-काल इसे स्मरण रखकर सन्ध्यावन्दन, जप, ध्यान, ईश्वर-चिंतन आदि करना चाहिए। किसी सतने कहा है —

"दो बातन को भूलमत जो चाहत कल्याण।
नारायण इक मौत को दूजे श्रीभगवान्॥"

अर्थात यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है तो मृत्यु और भगवान इन दोनो को स्मरण करता रहे। क्योकि सतत अभ्यास से ही बेडा पार हो सकता है। इस तरह के अभ्यास की वृद्धि ही श्रेयस्कर है।

स्मरण रहे कि साधना भौतिक हो अथवा पारमार्थिक, उसकी सिद्धि बिनापूर्ण श्रद्धा और अभ्यास के असभव है। उदा-हरण के लिए पाठशाला की परीक्षा को ही लीजिए। इसके लिए कितना अधिक परिश्रम एव अभ्यास करना पडता है। फिर तो ब्रह्म-विद्या के विषय मे क्या कहा जाय ? दीर्घकाल तक अनवरत गति से सेवा, सत्कार्य आत्म-चिंतन करने से ही इस कार्य मे सिद्धि सभव हो सकती है। इसमे न तो प्रश्न-पत्र का भेद खुलजाने की सभावना है और न ही दूसरो की चोरी से नकल करने की। पाठशाला की परीक्षा मानव-ज्ञान की परीक्षा होती है, किन्तु मृत्यु आत्म-ज्ञान की परीक्षा होती है।

एक और उदाहरण लेंगे। एक बार दो व्यक्ति कही जा रहे थे। मार्ग मे एक नदी आयी। उन दोनों में एक तो तैरना जानता था और दूसरा नही। जिसको तैरना आता था वह अपना वस्त्र कमर पर बांधकर पानी में छलांग मार दी और पूर्वाभ्यास के बल से तैरता हुआ उस पार जा पहुँचा। दूसरे ने भी इसे देखकर समझा कि वस्त्र को कमरपर बांधना और छलांग मार कर हाथ पैर हिलाते हुए उस पार जा पहुँचना बस इतनी ही बात है! ऐसा समझकर पानी में कूद पडा। पानी बहुत गहरा था। उसकी गति क्या हो सकती है? यह कहने की आवश्यकता नही "नदीना सागरो गतिः" अर्थात् डूबकर मर गया।

कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य तथा लौकिक विषय मे कार्य-सिद्धि के लिए भारी अभ्यास करना पडता है तो ब्रह्म-विद्या के विषय मे कहना ही क्या है!! ब्रह्म-विद्या की साधना से मानव अपने स्वरूप को जान लेता है और इससे परिचित रहकर जो परमात्मा के चिंतन मे रत रहते है वे अन्तकाल मे अनायास ही परमात्म-चिंतन करते हुए शरीर छोड देते है। परिणाम मे नदी का लय जिस तरह समुद्र मे होता है उसी तरह जीव का लय परमात्मा में होता है। इस तरह परमात्म-चितन का अभ्यास आत्मा जीव को अपने मूल स्थान पर पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

श्री स्वामी रामानन्दतीर्थ एकबार अपने शिष्य के घर जा रहे थे। मार्ग मे एक जमीदार ने उन्हे देखा। उनके मुखमडल

पर ब्रह्मतेज झलक रहा था। मुद्रा प्रशात और निर्भीक थी। उनके आत्मस्वरूप-चितन का देदीप्यमान आकर्षण जमीदार को यह सोचने के लिए विवश किया कि इस सन्यासी के पास न रात को सोने के लिए स्थान है और न दिन को भोजन समय पर मिलने की व्यवस्था है। फिरभी देखो, किस तरह आनन्द मे मस्त है। एक मैं हूँ कि कई पीढ़ियो तक बैठकर भोगने से भी समाप्त न होनेवाली सपत्ति मेरे पास जमी है। अनेक वैभवो की भी कोई कमी नही है। फिर भी इस सन्यासी के समान आनन्द का अनुभव मुझे कभी होता नही। अत इसमें अवश्य ही कुछ रहस्य है। इस तरह सोचकर वह झट स्वामीजी के पास गया और इसका कारण पूछा। रामतीर्थ को उस धनी की अज्ञानता पर दया आयी। उन्होने कहा "भय्या इसका कारण मैं अपने गुरु से पूछकर तुम्हे बताऊँगा। तुम अपना नाम तथा स्थायी पता लिखकर मुझे दे दो" धनीने तुरन्त अपना पूरा पता लिखकर स्वामीजी को दे दिया। रामतीर्थ ने हँसकर कहा "भैया, यह न तो तुम्हारा अपना नाम है और न स्थायी पता ही। यह तो केवल तुमने शरीर का नाम तथा शारीरिक ठिकानो का नाम लिख दिया। मेरे गुरुजी के पास शरीर का नाम नही चलता और न ही शारीरिक ठिकानो का। तुम अपना (स्वय का) नाम तथा स्थायी पता लिखकर दो।" इससे धनी की आँखे खुल गयी। अब तक जिस आत्मज्ञान से अनभिज्ञ था वह अब उसके मानस-पटल पर प्रकाशित हो गया। जन्म जन्मातरो से भटकी अपनी आत्मा का अनायास ही स्वामीजी के द्वारा स्वरूप साक्षात्कार हुआ। वह

इससे आत्मविभोर हो स्वामीजी का शरणागत होकर उनके चरणो से लिपट गया।

जिस मानव देह के लिए देवता भी लालायित रहते है उसको पाकर भी जो अपने जीवनकाल मे सत्स्वरूप को जानने का प्रयत्न किये बिना मृत्यु को प्राप्त होता है उसकी क्या गति होगी! इस भयकर परिणाम का अनुमान हम उस जल के सूक्ष्म कण से लगा सकते है जो अपने उत्पत्ति-स्थान समुद्र से निकल कर तब तक आकाश पाताल छानता फिरता है, जब तक अपने मूल स्थान समुद्र मे जाकर लीन नही हो जाता।

मानव केवल शरीर नही है। वह प्रकृति एव पुरुष का सयोग (सयुक्त रूप) है, जिन्हे जड व चेतन भी कहा जाता है। जीव चैतन्य है और शरीर जड। इन दोनो के उत्पत्ति स्थान भी इस महाशक्ति के दो पृथक-पृथक स्वरूप है। एक की उत्पत्ति विकृत पचभूत से है तो दूसरे की शुद्ध अविनाशी ब्रह्म से। पच भूतो से बना हुआ शरीर अतकाल मे फिर अपने-अपने पच भूतो मे लय हो जाता है। इसी तरह यदि जीव भी अतकाल मे शरीर से पृथक होने पर अपने स्वस्थान ब्रह्म मे विलीन हो जाय तो जन्म मरण रूपी सागर से पार हो जाता है। अर्थात भव बन्धन से मुक्त हो जाता है। यदि भूल से कही इस देह अथवा ससार से मोह हो गया तो जीव उसी को प्राप्तकर इस ससार मे भटकता फिरता है। इसी कारण माया के मोह से बचने तथा

अपने स्वरुप मे मिलने के लिए जीवन-काल मे तन्मयता के साथ साधना करनी पडती है। साधना के अभाव मे उक्तकाल मे जीव अपने मूल-स्थान सत्, चित् आनन्द रुप ब्रह्म को स्मरण न कर भौतिक पदार्थों के मोह मे पड विविध योनियो मे भडकता फिरता है। किवा 'अशरीर होकर व्याकुल हुआ मारा मारा फिरता है और पूर्व सस्कार वश कर्मानुसार दुर्गन्धयुक्तयोनि-मार्ग से गर्भ मे प्रवेशकर जीवन-मरण चक्र मे उलझा रहता है।

गर्भ मे पडने के पश्चात् सुषुम्नानाडी खुली रहती है। माया नटी घूघट डाले अपने नृत्य से उसे वहाँ नही लुभा सकती। इससे जीव को अपने पूर्व जन्मो की स्मृति होकर घोर पश्चात्ताप होता है। तभी वह अनुभव करता है कि भगवान ने इसे अपने जन्म सार्थक करने के लिए ही अवसर दिये थे, किन्तु अज्ञानवश उसने उन सवको खो दिया। गर्भ के अन्दर ही वह अपनी खेदपूर्ण स्थिति पर रो रो-कर आँसू वहाता है और उस परम पिता से प्रार्थना करता है कि हे भगवान्, इस बार मुझे इस दुर्गन्ध पूर्ण अन्धकूप से वाहर निकालिए मै केवल आप के ही चितन मे तल्लीन रहूँगा और आपके पास पहुँचकर अपना जन्म सार्थक करलूंगा। कृपानिधान भगवान उसकी प्रार्थना सुनते है और उसे गर्भ से वाहर कर देते है। किन्तु वाहर आने के साथ ही ज्योही माया नटी ने अपना घूघट उठाकर मुस्कुरायी योही उसकी स्थिति वदलने लगी।

स्मरणीय है कि मातृ गर्भ मे रहते समय हम सबने इसी तरह प्रार्थना की थी। जरा नेत्रों को अन्तर्मुख कर आत्मालोचन कीजिए। अपनी मानसिक-वृत्तियों की तरफ ध्यान दीजिए। तब ज्ञात होगा कि आप अपनी प्रतिज्ञा का पालन कहाँ तक कर रहे है। यह मानव-जन्म रूपी नाव अनेक जन्मो के पुण्य बल से प्राप्त हुई है। यह भव सागर को पार करने के लिए मिली है। अतः सावधान रहिए कही ऐसा न हो कि उस पार जाने से पहले ही नाव टूट अथवा भटक न जाय। ऐसी दशा मे तुम्हारी क्या गति होगी ? इसे बताने की कोई आवश्यकता नही है। इस अर्थ को बतानेवाला महत्वपूर्ण श्लोक है :—

"महता पुण्य पण्येन क्रीतेय काय नौस्त्वया।
पार दु.खोदधर्यातु तर यावन्नभिद्यते"

"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत" इस उपनिषद के उपदेश पर गभीर होकर ध्यान दे और सावधान हो जायें

इस जन्म मरण सागर को पार करके मोक्ष-धाम पहुँचने के लिए जीव ने किस तरह के साधन प्राप्त कर लिये हैं ?

कठोपनिषद मे कहा गया है कि—

आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव,
बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रह मेवच,

इंद्रियाणि ह्यान्याहु विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेद्रिय मनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण: ”

आत्मा या जीव रथी है। शरीर रथ है। इद्रियाँ घोडे, मन बागडोर तथा बुद्धि सारथी है। विषय उनके मार्ग हैं और शरीर, इद्रियाँ एव मन से युक्त आत्मा भोक्ता है।

यह स्पष्ट हैं कि जीवने अपनी यात्रा के लिए देह, इद्रियाँ आदि साधनो को प्राप्त कर लिया है और शरीर रूपी रथ पर बैठकर वह यात्रा कर रहा है। अपने इस प्रस्थान मे उसे एक निश्चित स्थान पर पहुँचना है। इस स्थिति मे यदि उसके सारथि अश्वादि उसके अधीन होकर उचित मार्ग पर अग्रसर होतो जीव अपनी इस महायात्रा को सफलता पूर्वक सम्पन्न कर सकता है। यदि इसके विपरीत रथ के अश्व उच्छृखल होकर मनमाने पथ पर भागने लगे तो रथ कही गर्त मे जा पडेगा और रथी रथ के पहियो के नीचे दब मरेगा।

आइए जरा थोडी देर कें लिए अतर्मुख हो आत्मविषलेषण कर ले कि क्या ये हमारे इद्रिय रूपी अश्व हमारे गतव्य स्थान मोक्षग्राम की दिशामे ठीक मार्ग का अनुसरण कर रहे है ? इस भाति आत्मनिरीक्षण से यह स्पष्ट प्रकट हो जायगा कि बात तो हमारी आशा के सर्वथा विपरीत ही है। देह, इद्रियाँ, मन एव बुद्धि की गतिविधियो के सूक्ष्म अवलोकन करने से विदित होता है कि ये हमारे अनुकूल नही प्रत्युत प्रतिकूल पथ गामी है।

ब्राह्ममुहूर्त में उठकर शीतल जल से स्नान करके भगवान का ध्यान करना हम चाहते हैं तो शरीर मानता नही। वह सूर्योदय के पश्चात् भी शय्या पर पडे-पडे करवटे बदलते रहने की इच्छा रखता है। इद्रियों की बात तो निराली है। वे नाना-विध विपयो की ओर दौडने मे ही व्यग्र रहती है। वे हमारी इच्छा की तनिक भी चिता नही करती। मन की स्थिति तो और भी शोचनीय है। वह एक ही समय में दशो दिशाओ में भागता-फिरता है। बुद्धिरूपी सारथी आत्मा के निकट रहकर भी मन और इंद्रियो की प्रतिकूल गति के कारण विवश एवं हतप्रभ हुआ है।

जब हमारे यात्रा-साधनो की यह खेदजनक स्थिति है तो यह कहने की आवश्यकता नही कि हमें पहले इन साधनो का ही परिषकार करना चाहिए। हमे साधक बनकर इन साधनो को अपने अधीन करना होगा। फिर इन्हे मोक्षधाम की ओर मोड-कर पुरुषार्थी की सिद्धि में तत्पर रहना होगा। इस स्थिति को ही श्रेष्ठ जन-जीवन का साफल्य बताते है।

इस दिशा मे हमारा सवप्रथम कर्तव्य यह है कि हम इन उपकरणो को अपने वश मे कर लेने के उपाय को जान ले और फिर प्रयत्नपूर्वक इन्हे सत्पथ पर लगावे। इसमे रच मात्र भी सदेह नही है कि यह सव कुछ हमारे प्रयत्न पर ही निर्भर करता है। क्योकि मनुष्य के अन्दर प्रच्छन्न रूप से विद्यमान शक्ति की कोई सीमा नही है। तपस्या करके अल्प काल मे ही भगवान

को साक्षात्कार कर लेने की शक्ति इसके अन्दर है। जगद्वि-जेता हिरण्यकशिपू के विरुद्ध रहकर स्तभ मे से भगवान को प्रकट करानेवाले प्रह्लाद की शक्ति इसके भीतर है। सृष्टि की प्रतिसृष्टि करके दिखानेवाले विश्वामित्र की शक्ति इसके अन्त-र्गत निहित है। इतना ही नही यदि नर तीव्र प्रयत्न करे तो नारायण भी बन सकते हैं। हाँ, इसके लिए उसे सदा प्रयत्न-शील रहना पडता है।

अब प्रश्न यह है कि हम अपने शरीर, इद्रियादि को वश मे करें भी तो कैसे ? जिस भाति किसी शत्रु को परास्त करने के लिए पहले हम उसकी गतिविधियो की पूर्णजानकारी प्राप्त करते हैं और फिर तदनुरूप साधनो का प्रयोग कर उसे पराभूत करते हैं, उसी भाँति हमें पहले इनके वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करना होगा और तदुपरान्त उन्हे अपने अधीन कर लेने के श्रेष्ठ उपायो को निश्चित करना होगा। किसी भी दशा मे हमे इसमे हठधर्मी से काम नही लेना चाहिए। इतना विचार कर लेने के अनन्तर अब हम शरीर के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध मे और उसे अपने अधीन करलेने का विचार विश्लेषण कर लेगे।

शरीर

इसका नाम देह है। इस नाम मे ही इसका वास्तविक स्वरूप परिलक्षित होता है। "दह्यते इतिदेह" अर्थात् जलाई जानेवाली है अत इसका नाम देह है। मरणोपरान्त श्मशान में चितागिन से यह देह जलायी जाती है, यही बात नही है। एक अन्य अग्नि भी है जो जीवित व्यक्ति को भी जलाती रहती है। उसका नाम है चिंता। चिता और चिंता में केवल बिन्दु मात्र का अन्तर है। बिन्दु की अधिकता के कारण चिंता चिता से भी अधिक दाहक है और शक्ति सपन्न है। ससार मे करोडो लोग हैं किन्तु उनमे कोई विरला ही होगा जिसमे चिंता रूपी अग्नि का आवास न हो। जीवित रहते समय भी इस भाति जलाई जानेवाली होने के कारण ही यह देह के नाम से अभिहित हुआ है।

शरीर के नाम से भी उसका लक्षण लक्षित होता है—शीर्यते इति शरीरः—अर्थात जीर्ण और शीर्ण होना उसका स्वभाव है—अतः शरीर है। जन्म की घडी से अनेक विकारों को प्राप्त होता हुआ मृत्यु का ग्रास बननेवाला है। जन्म ग्रहण के समय केवल रक्तपिंड के रूप मे रहता है। बाल्यावस्था मे सुकुमार और रमणीय दीखता है। युवावस्था मे प्रवेश करने पर सुन्दर तथा मनमोहक बनता है। देखते ही देखते वृद्धावस्था ढल जाती है और जराग्रस्त होकर श्मशान पर पहुँचने का योग आ उपस्थित होता है। इसे स्थिर बनाये रखने के सारे प्रयास विफल हो जाते है। क्योंकि शरीर होने के कारण यह शीर्णधर्मी है। इस तरह जानकर समय रहते ही हमे श्रेय की प्राप्ति कर लेनी चाहिए।

इस सबन्ध मे महात्मा गाधी का कथन भी स्मरणीय है। उन्होने इस शरीर को किराये का मकान कहा है। इसका स्वामी भगवान है। मकान खाली करने के लिए स्वामी का आदेश मिलते ही हमे धन्यवाद पूर्वक उनके हाथो मे इसे सौपने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए, किन्तु बात ऐसी नही है। लोग इस किराये के मकान को छोडना नही चाहते। भला भगवान की शक्ति के सामने हमारी क्या हस्ती है। दयामय भगवान हमे समय से पूर्व तीन सूचनाये देते हैं। प्रथम है केश का श्वेत होना, द्वितीय है दात टूटना और तृतीय है कमर झुक जाना और हाथ मे लकडी का आना, किन्तु मूढ मानव कब इनकी चिंता

करता है । केश श्वेत हुए तो कानपूर को आर्डर भेजकर उन्हें काला करने के लिए केश कल्प (खिजाव) मगा लेता है । दात जाते रहे तो किसी अच्छे दंत वैद्य के पास जाकर नये दात लगवा लेते है । इसी प्रकार शरीर जर्जर होने पर सिद्धमकरध्वज लेह्‌य मंगाकर सेवन करने लगते हैं । हमारी इस हठधर्मी को देखकर भगवान यमदूत को भेजकर इस देहरूपी मकान से बलात् निकलवा देते हैं और तब हमें विवश होकर इसे छोडकर चला जाना होता है ।

भगवद् गीता में शरीर का एक नाम और देखने को मिलता है । वह है "क्षेत्र" । "इद शरीर कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" इस क्षेत्र शब्द की व्याख्या शंकराचार्य जी ने इस प्रकार की है—"क्षतत्राणात् क्षयात्, क्षरणात् क्षेत्रवद् वाअस्मिन् कर्म फल निष्पत्ते क्षेत्रम्" अर्थात् एक अर्थ है जीव को घावो से बचाता है, दूसरा है जीर्ण होने का स्वभाव रखता है और तीसरा है खेत के समान कर्मफल की उत्पत्ति करता है ।

शरीर को खेत के अर्थ में प्रयुक्त करने के भाव पर जरा ध्यान दे । खेत में जिस तरह के बीज बोते हैं उसी प्रकार का अन्न उत्पन्न होता है । यहाॅ बीज क्या है ? संत तुलसीदास ने कहा है :—

"तुलसी काया खेत है मनसा भया किसान,
पाप पुण्य दोउ बीज हैं बुवै सो लुनै निदान"

शरीर खेत है, मन किसान है तथा पाप और पुण्य ये दो ही प्रकार के वीज हे। पापरूपी वीजो के वपन करने का परिणाम दुख होता है और पुण्यरूपी वीजो का सुख। इस जीवन मे हमे प्राप्त होनेवाले सुख और दुख पूर्व में वोये हुए पुण्य और पाप के वीजो के ही विपाक हैं। इस भाव को भली-भाति जान लेने पर सुख का उन्माद और दुख की पीडा हमे विचलित नही कर सकते।

वाहर की खेती एव अन्दर की खेती मे वडा अन्तर है। वाहर की खेती मे क्षेत्र के कर्पण तथा वीजावायन के लिए अनुकूल समय के आने तक प्रतीक्षा करनी होती है। निश्चित समय पर ही वीज वपन करना पडता है। इतना सव कुछ करने पर भी यह विश्वास नही कि उपज आकाक्षित मात्रा मे प्राप्त हो सकेगी भी, क्योकि इसके फल की प्राप्ति कई वाह्य परिस्थितियो पर निर्भर करती है। शरीर रूपी क्षेत्र की कृपि की वात इससे सर्वथा भिन्न है। यह अत कृपि अहर्निश अपने वेग से चलती रहती है। यहाँ मनुष्य का प्रत्येक सकल्प इस क्षेत्र मे वोया जाने वाला वीज है। सकल्प तो दिन रात उत्पन्न होते रहते हैं। यहाँ बीज वपन के साथ ही शत-प्रतिशत उपज की प्राप्ति हो सकती। मुमुक्षु जनो के लिए यह कृषि कितने भाग्य की वात है! यदि कोई यह प्रश्न करे कि यहाँ किस प्रकार की खेती होनी चाहिए तो हम विना किसी हिचक के कह सकते है कि 'सकल्प सस्कार की।' सकल्प ही हमारे जीवन का निर्माण करते है। यदि सारे सकल्प अच्छे है तो आनन्दरूपी फल प्राप्त होता

है। अन. हमारा यह सतत अध्यवसाय होना चाहिए कि हम अपने पूर्व सकल्पो को परिष्कृत बनाये और भविष्य में एकमात्र सकल्प को ही नये रूप से उत्पन्न करे। यदि सकल्पों के प्रकार होते ही हम उन्हे सावधानी पूर्वक "बहुजन हिताय तथा बहुजन सुखाय" की उदार भावना से संपृक्त कर सके तो हमारी यह कृपि निश्चय ही श्रेष्ठ मानी जायगी।

क्षेत्र शव्द पर अधिक गंभीरता पूर्वक विचार करने पर इसमे एक अन्य विशेषता भी परिलक्षित होती है। पावन एव पुनीत स्थल को भी क्षेत्र कहते हैं। काशीक्षेत्र, गयाक्षेत्र, तिरुपति-क्षेत्र कहने मे मुख्य भाव यह है कि ये भगवान के आवास स्थल है। यह शरीर भी एक क्षेत्र है जिसमे भगवान विराजमान रहते हैं। भगवान का निवास स्थल हृदय है—"ईश्वरस्सर्वभूताना-हृद्देशेर्जुन तिष्ठति" गीता (१८-६१)। यही भाव भगवान आदि शकराचार्य ने व्यक्त किया है—"देहो देवालय. प्रोक्तो जीवो-देवस्सदाशिव " शरीर ही सच्चा देवालय और इसके भीतर रहने वाला जीव ही शिव है। हमे यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि यह शरीर भगवान के रहने का स्थान है। कभी भी प्रमादवश इसमें बुरे सकल्पो को प्रश्रय नही देना चाहिए। यदि हमे यह पना लग जाय कि आज हमारे घर पर कोई सम्मान्य अतिथि पधारनेवाले है तो हम अपने घर की झाड बुहार करते है, उसे स्वच्छ एव शुद्ध रखने का कंसा हर सभव प्रयास करते है। जिस घर में स्वय भगवान ही प्रतिष्ठिन हो तो उसे कितना पवित्र तथा सुगन्धपूर्ण रखना चाहिए। इसका अनुमान अब स्वय ही

लगाया जा सकता है। आशा है कि आप इससे शारीरिक स्वास्थ्य तथा शुचिता की आवश्यकता समझ गये होगे।

यहाँ तक हमने शरीर तथा उसके पर्यायवासी शब्दो के अर्थ तथा उसके वास्तविक स्वरूप पर विचार किया। अब इस शरीर को अपने अधीन करने के उपाय तथा उसे मोक्षधाम का एक उपयोगी साधन बनाने की सभावनाओ पर विवेचन करेगे।

शरीर को सदा स्वच्छ एव पवित्र रखना चाहिए। स्नानादिक से इसको निर्मल बनाये रखना चाहिए। यह बात यो तो दखने मे समान्य सी लगती है, परतु है बहुत ही महत्वपूर्ण। किन्तु बाह्य शोच से ही हमारा कर्तव्य समाप्त नही हो जाता। इसके साथ ही साथ आन्तरिक शुचिता के लिए भी प्रयास करना चाहिए। यह प्राय देखने मे आता है कि नित्यप्रति स्नान करने-वालो मे से कई लोग अपने को उच्च वर्ण का और इतर लोगो से श्रेष्ठ मानते हैं। किन्तु इस भाति अपने को महान अथवा उच्च मानना अहकार का ही द्योतक है। कोई भी व्यक्ति किसी वर्ण विशेप मे जन्म लेने के कारण ही अन्य वर्ण की जनता से अपने को श्रेण्ठ नही समझ सकता, और यदि वह ऐसा करता है तो यह उसकी अज्ञानता ही है। दिन मे दो तीन बार स्नान करके दूसरो को "मुझे छुओ मत, और पास-पास मत आओ" कहनेवालो का अत करण शुद्ध कभी हो ही नही सकता। बाह्य शुद्धि अत शुद्धि का भी हेतु बनना चाहिए। अन्दर की मलिनता

को दूर करने के लिए यह बाह्य क्रिया एक साधना बननी चाहिए। इस सम्बन्ध मे कबीरदास के विचार माननीय हैं—

'न्हाये धोये क्या भया जो मन मैल न जाय,
मीन सदा जल में रहे धोये वास न जाय।"

स्नानमात्र से प्रयोजन की सिद्धि नही होती। मन का मैल दूर होना चाहिए। मछली सदा जल के भीतर ही निवास करती है, किन्तु मल मल कर, रगड-रगडकर धोने से भी उसकी दुर्गन्ध नही जाती।

शुद्धि का क्रम निम्नलिखित प्रकार से होना चाहिए :—

"अद्भिर्गात्राणि शुद्धयति मनस्सत्येन शुद्धयति
विद्यातपोभ्यां जीवात्मा वुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति",

जल से देह, सत्य से मन, विद्या तथा तपस्या से जीवात्मा और ज्ञान से वुद्धि शुद्ध होती है। जल से देह की शुद्धि क्रमश: मन वुद्धि एव जीवात्मा की शुद्धि का हेतु भून होना चाहिए। अत. पूर्ण ध्यानपूर्वक शरीर की बाह्य तथा आभ्यतरिक शुचिता की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। कोई भी कर्म कोई भी आचार अथवा व्यवहार जिससे अहकार को पोपण मिले तथा अत.करण मलिन हो, हमारे जीवन पथ के लिए घातक ही है।

दूसराउपाय है—सात्विक आहार का सेवन। श्रुतिमाता कहती है,—"आहार शुद्धौ सत्व वृद्धि" अर्थात् आहार की शुद्धि

से सत्व गुण की वृद्धि होती है। जिस तरह का आहार सेवन किया जाता है उसी तरह का विकार शरीर मे उत्पन्न होता है। विजया (भग) का सेवन करने से शरीर मे विजया का विकार होता है। अफीम खाने से शरीर मे उसी भाति की मादकता रहती है। मद्यपान एव मास भक्षण से तदनुकूल विकार शरीर मे छा जाते है। दूर क्यो जावे प्याज और लोहसन खाने से उसी तरह की डकारें आने लगती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर आहार का ही परिणाम है। भोजन के सूक्ष्माग से मन का निर्माण होता है और उसके स्थूल अश से शरीर का गठन होता है। राजसिक आहार के सेवन से क्रोध, उद्वग आदि गुण अधिक होते हैं। अत सात्विक तथा पौष्टिक आहार के सेवन से यह शरीर हमारे मार्ग का अनुकूल साधन बन सकता है।

कुछ लोग उपवासादि कठोर व्रतो के पालन से अपने शरीर को क्षीण एव दुर्बल बना लेते हैं। यह एक सीमा तक तो ठीक है। किन्तु इसका अन्धानुकरण हानिकारक ही होता है। कितने ही स्त्री पुरुषो को मैं जानता हूँ जो ज्वर से पीडित रहकर भी शीत खाँसी आदि से क्लेशित होने पर भी व्रत का पालन करना अपना परम पुरुषार्थ मानते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी बीमारी को बढा लेते है जिससे विवश होकर उन्हे अपनी रही सही साधना भी छोड देनी पडती है। ऐसे लोगो को यह समझ लेना चाहिए कि वाह्याचार व्रतादि का अनुष्ठान

अपनी परिस्थिति की सीमा के अन्दर ही होना चाहिए। और फिर व्रतादि ही सब कुछ नही है। ये तो मात्र साधन है साध्य नही। साधन के लिए साध्य की उपेक्षा कदापि उचित नही। दोनो का सम्यक् मूल्याकन हो प्रशस्त है। गीता मे भगवान ने एसे लोगो को हेय माना है .—

"कर्षयन्तश्शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः
माचैवातश्शरीस्थं तान्विध्यासुर निश्चयान्" (17-6)

अर्थात बलात् देहेन्द्रियादि को सुखाने तथा क्लेश देनेवाले व्यक्तियों को असुरी स्वभाव वाला बताया गया है।

इससे पूर्व यह देख चुके हैं कि देह रथ के समान है। अत इस रथ के सभी उपकरण सशक्त रहने पर ही गति मे तीव्रता लायी जा सकती है। आध्यात्मिक साधना मे यदि शरीर दुर्वल हुआ तो प्रगति कुठित हो जायगी। किन्तु इसका आप कही विपरीत अर्थ न ले ले और शरीर-साधन मे लग ठूँस ठूँस कर खाना आरभ कर दे। यह भी हानिकारक है। आहार मे युक्तता होनी चाहिए। महाभारत के शाति पर्व मे इस सबन्ध मे एक आख्यान है। भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं –

"यथाचकश्चित् परशुं गृहीत्वा धूमनपश्येज्ज्वलनच काण्ठे
तद्वच्छरीरोदरपाणिपाद छित्वा न पश्यति ततोयदन्यत्।

परच :

"तान्येव काष्ठानि यथाविमृश्य धूमंच पश्येज्ज्वलनंच योगात्
तद्वत् सबुद्धि समंमिद्रियात्मा बुध परपश्यति तं स्वभावम्।

अर्थात् जैसे कोई मनुष्य कुलहाडी लेकर लकडी को काटे तो उसमे न तो आग दिखाई देगी और न धुवा ही प्रकट होगा। परन्तु उन्ही कष्टो को युक्ति पूर्वक मथन करने पर अग्नि और धुआ दोनो भी देखने को आयेंगे। उसी प्रकार इस शरीर को नष्ट भ्रष्ट करने से परम तत्व का साक्षात्कार नही हो सकता। उसका साक्षात्कार तो आगमोक्त मथन से ही सुसाध्य है।

भगवान बुद्ध भी अपनी सूदीर्घ काल की तपस्या के अन्त मे अपने अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मध्य-मार्ग ही स्वर्ण-पथ है। वीणा के तारो को इतना अधिक मत खीचो कि वे टूट ही जाय और उन्हे इनना ढीला ही छोडो कि उनसे आकाक्षित राग और श्रुति ही न निसृत हो। भाव यह कि उपवासादि घोर आचरणो से इद्रियो को अशक्त न बना दो और न उन्हे इतना पोषण ही दो कि वे अच्छुखल हो जाएं। मध्यमार्ग का अवलवन ही श्रष्ठ है।

यहाँ तक देह को अपने वश मे करने के वाह्य उपायो की चर्चा हुई। इनके अतिरिक्त एक उपाय और है जो सूक्ष्म है, आतरिक है और है अचूक है। परन्तु इसका आलबन सभी साधको के वश की बात नही है। वह है देहात्म भावना से विमुक्त होना। इस समार मे प्राय सभी लोग इस देहात्म भावना से हो बधे हुए है। पुराणो मे जो कहा गया है कि जीव का मरण काल उपस्थित होने पर यमराज उसके गले मे पाश डाल देते हैं,

वह तो कोई अन्य पाश नही है। वह यही पाश है। संसारी जीव देहात्म भावना-रूपी अविद्या का पाश अपने गले मे स्वय डाल चुका है। इससे विमुक्त होना कोई सरल बात नही है। अज्ञान की इस शृखला को विदीर्ण करने के लिए ज्ञान रूपी खड्ग की आवश्यकता हुआ करती है। यही कारण है कि विरले ही इसे विदीर्ण करने मे सक्षय होते हैं। वे ही धीर पुरुष कहलाते है।

अज्ञान के प्रमुख लक्षण तीन है .—पहला है अपने से भिन्न वस्तु देह को अपना स्वरूप समझना, दूसरा है देह के लिए जो वस्तुएँ आवश्यक होती है उन्हे अपने लिए आवश्यक समझना, और तीसरा है अनित्य वस्तु शरीर मे नित्यत्व का आरोप करना। यद्यपि ये देखने में तीन है किन्तु इनका मूलकारण एक ही है और वह है देह को अपना स्वरूप समझना। इस अज्ञान से मुक्त होने के लिए जीव को यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिए तभी वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने में सफल हो सकता है।

शरीर आत्मा नही है। वह इससे सर्वथा भिन्न है। शरीर-सुख के लिए आवश्यक नही है। शरीर अपवित्र एव असत्य वस्तु है। अत उसमे पवित्रता तथा सत्यत्व का आरोप करना भ्राति है। इस भ्राति को दूर करने के लिए ज्ञान की प्राप्ति ही एक मात्र उपाय है। अन्यथा इसका विदूरण नही हो सकता।

अन्धकार मे रहनेवाला व्यक्ति यदि उसे दूर करने की इच्छा से स्नान जपादि करे तो वह अन्धकार दूर नही हो सकता। इसी भाति स्वप्न मे वृश्चिक दशन से पीडित होकर चिल्लानेवाले मनुष्य के लिए ससार मे कोई भी चिकित्सा उपयोगी नही हो सकती। उठकर स्विच् दबा दें तो अन्धकार भाग जाता है और पीठ पर थपकी देकर जगा देने से वृश्चिक देशन से पीडित व्यक्ति की वेदना जाती रहती है। इसी भाति ज्ञान-प्राप्ति से ही अज्ञान के अनिष्ट की निवृत्ति होती है।

अब प्रश्न उठता है कि ज्ञान की प्राप्ति किस तरह सभव है? भगवद्गीता के क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग मे भगवान ने ज्ञान के बीस लक्षण बताये हैं। यदि हम प्रयास पूर्वक उनमें से किसी एक पर भी अपना अधिकार जमा लें तो अन्य लक्षणो की प्राप्ति सहज व सुगम हो जाती है। भगवान ने बताया है "जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुखदोषानुदर्शनम्" (गीता 13–8)। यह देह जन्मती है, मृत्यु का ग्रास बनती है, जरा व्याधि आदि दुखो से युक्त रहती है—इस प्रकार बारम्बार आलोचना करना ज्ञान प्राप्ति का लक्षण होता है।

उपर्युक्त विषय को सम्यक रूप से समझने के लिए थोडी और अधिक समीक्षा की आवश्यकता है। शरीर जन्म के समय भीषण दुख अनुभव करता है। क्योकि सकुचित मातृ योनि-रन्ध्र से उसे बाहर आना होता है। उस समय न केवल जन्म लेनेवाले जीव के शरीर को ही दुखानुभूति होती है, प्रत्युत्

माता को भी असह्य प्रसव-वेदना होती है। इतने भयकर दूख को सहन करके देह ने जन्म लिया। अब इन दुखो की अग्नि से तपकर निकलने के पश्चात् भी यह चिंता मुक्त हो सकती है ? नही, कदापि नही, क्योकि जन्म के साथ मृत्यु लगी रहती है। काल सदा उसे अपना ग्रास बनाने को तैयार बैठा रहता है– 'जातस्यहि धृवोमृत्यु" शरीर क्यो उत्पन्न हुआ ? मरने के लिए यह त्रिसत्य है। ज़ीवन मे अन्य सभी काम अनिश्चित हो सकते है, किन्तु मरण निश्चत है, अटल है। अकाट्य है। अपरिहार्य है। कई लोग ऐसे हैं जो मरण शब्द सुनकर घबडाते है ओर कान में यह शब्द पडते ही कान बन्द कर लेते है, मानो मरण कोई अशुभ शब्द है। यह अज्ञान का लक्षण है।

जन्म की भाति ही जरा का दुख भी शरीर के लिए बडा भयकर होता है। "व्याघ्रीवतिष्ठति जरा" वृद्धावस्था रूपी बाघ ताक में बठा है। इस उक्ति से जरा की भीषणता का पता चलता है। यह जरावस्था बहुत ही अपमान जनक होता है। कानो से सुनाई नही पडता। नेत्रो से देखा नही जाता। पैरो मे शरीर का भार वहन करने की शक्ति नही रहती। शरीर की सारी पटुता शिथिल हो जाती है। इस पर आश्चर्य का विषय तो यह है कि इद्रियो की शक्ति क्षीण होने पर भी उनमे भोगवासना उत्कट रूप से रहती है। इस सम्बन्ध मे भर्तृहरि का कथन स्मरण आता है—"वलिभिर्मुखमाक्रात पलितैरकितशिर गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते"

अपिच–"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा" ज्यो ज्यो वृद्धावस्था बढती जाती है त्यो त्यो तृष्णा तरुण होती जाती है। इस शोचनीय स्थिति पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

रोगो के सम्बन्ध मे तो कुछ कहने की ही आवश्यकता नही है। ऐसा कोई भी शरीर नही जिसके साथ रोग न लगा हो—"शरीर व्याधि मदिरम"। कुछ लोगो के शरीर मे तो रोग अनामन्त्रित अतिथि की भाँति आया जाया करते है। परन्तु कुछ लोगो के शरीर मे तो ये रोग ऐसे बैठ जाते हैं मानो उन्हे बार बार आना जाना पसन्द नही है और स्थायी रूप से वही टिक जाते हैं। शरीर इस प्रकार के दुखो से सदा युक्त रहनेवाला है। ऐसा समझकर अनुदर्शन (आलोचन) करते रहना ज्ञान का लक्षण है। अनुदर्शन करने से लाभ यह है कि जब हम शरीर के दुखो से वास्तविक स्वरूप को जान लेते हैं तो शरीर के ऊपर से आसक्त एव तादात्म्य भाव जाता रहता है। इस तरह का चिंतन करते समय हम अपने को देह से सर्वथा भिन्न होने का अनुभव करते हैं क्योकि उससे भिन्न रह कर ही उसका अनुदर्शन किया जा सकता है। "घटद्रष्टा घटाद् भिन्न" देह घर के समान है मैं उसे देखने वाला दृष्टा हूँ। मैं स्वय साक्षी मात्र हूँ, आत्मा हूँ। इस घट से सर्वथा पृथक हूँ। सच्चिदानन्द स्वरूप मैं इस अपवित्र, विनाशशील, विकारवान जड देह से अपने को अभिन्न समझना मेरे लिए कितने गर्हणीय बात है! इस प्रकार अन

चिंतन करना चाहिए। महर्षि पतजलि ने अपने योग-सूत्रो में सभी प्रकार के दुखों का मूल कारण देहात्मा भावना को ही बताया है — "द्रष्टा दृश्ययोः संयोगोहेयहेतु"—देही आत्म स्वरूप और द्रष्टा होकर भी दृश्य स्वरूप शरीर के साथ अपने को सयुक्त एव अभिन्न समझना ही हेय या दु ख का कारण है। उन्होने आगे चलकर बताया कि तदभावात सयोगाभावहान नादृशे· कैवल्यम्' उस अविद्या के अभाव से सयोग का अभाव होता है। यह चित शक्ति का कैवल्य है। द्रष्टा तथा दृश्य के सयोग भाव का अन्त करके दोनो की वास्तविक स्थिति मे दर्शन करना ही ज्ञान है। द्रष्टा को द्रष्टा के स्थान में रखो और दृश्य को दृश्य के स्थान मे। मैं द्रप्टा हूँ। जड शरीर नही हूँ। "सोऽह सोऽह" मैं वह आत्मा हूँ। इस प्रकार के अनवरत अभ्यास से ज्ञान की प्राप्ति सम्भाव्य है। देह को अपने से अलग समझने के तीव्र भाव की उपासना ही देह को अपने अधीन रखने का अत्युत्तम उपाय है। ऐसे ही साधको के लिए यह शरीर मोक्षपथ का अनुकूल साधन बनता है।

अब तक देह का स्वरूप तथा उसे अपने वश में करने के बाह्य एव आंतरिक उपायो के विषय मे चर्चा हुई। अब इद्रियाँ, मन, बुद्धि तथा आत्मा के विषय मे क्रम से विचार करेगे।

इंद्रियाँ

इद्रियाँ देह से अधिक सूक्ष्म हैं। "इंद्रियाणि हयान्याहु" (कठोपनिषद 3–17) ये इद्रियाँ रथ मे बैठे हुए यात्री के लिए अश्वो के समान हैं। यदि अश्व रथी के अधीन हुए तो यात्रा शीघ्र समाप्त हो जाती है। ऐसा न होकर ये मनमाने चलने वाले हो गये तो निर्दिष्ट लक्ष्य मोक्षधाम तक पहुँचना सभव नही तो दुपकर अवश्य होगा। इसका दुखद परिणाम यह होगा कि जन्ममृत्यु के अनन्त चक्र मे पडकर नानाप्रकार दुखो को अनुभव करना पडेगा। अत जीव की अपनी यात्रा मे अश्वरूपी इद्रियो का स्थान प्रमुख तथा बहुत ही महत्वपूर्ण समझना चाहिए। इसी कारण इद्रियो के स्वरूप के विषय मे जानकारी करना आवश्यक है।

श्रीमद् भगवद् गीता मे बताया गया है कि —

"मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुखदा.
आगमापायिनोऽनित्या स्तास्तितीक्षस्वभारत" (गीता 2.14)

इंद्रियों से विषयों का स्पर्श होने पर सुख और दुख उत्पन्न होते हैं। वे आने-जानेवाले है। उन्हे सह लो। संक्षेप में यही इसका भाव है।

यहाँ भगवान ने इंद्रियों को 'मात्राएँ' संज्ञा दी है। इस नाम से उनका यथार्थ स्वरूप व्यंजित होता है। "मीयन्ते आभि विषयाः इति मात्राः" इन से विषय मापे जाते हैं अतः ये मात्राएँ हैं। दाल में नमक अधिक है अथवा न्यून, यह किसने मापकर बताया ? जिह्वा ने ! यह व्यक्ति सुन्दर तो है परन्तु यदि उसकी नाक थोडी और लंबी होती तो बहुत ही सुन्दर दीखता था। सौंदर्य की यह माप किसने की ? नेत्रो ने। इसी भांति सुगन्ध या दुर्गन्ध कितने परिमाण में है नासिका बतलाती है। इंद्रियाँ मात्राएँ है क्योंकि वे अपने अपने विषयों को मापकर बतलाती है।

इन्हे मात्राएँ कहने से एक और भी भाव परिलक्षित होता है। मात्रा शब्द का अर्थ परिमितता से भी है अर्थात इनका उपयोग परिचित रूप में ही करना चाहिए। वैद्य जब मात्राएँ बनाकर देता है तो उसमे प्रत्येक वस्तु परिमित रूप में समाहित रहती है। अत. इद्रियों को मात्रा कहने का तात्पर्य यह है कि इनका उपयोग सीमित रूप में करना चाहिए। अन्धाधुंध मन-माने उपयोग करने से महान् अनर्थ होने की आशका रहती है। इसलिए सर्वज्ञ भगवान ने हमें जिन इंद्रियों को प्रदान किया है उनको उपयोग करने की विधियाँ भी एक सीमा में बांध दी है।

उदाहरण स्वरूप मुख को ही लीजिए। मुख से सात्विक वाहार-सेवन करना चाहिए और सद्वाणी का उच्चारण करना चाहिए। तमोगुणी आहार तथा कुवाक्य का प्रयोग कदापि नही करना चाहिए।

वस्तु के मिलने के साथ ही हमे उनके स्वामी के निर्देश पर सम्यक ध्यान देना चाहिए। यदि वस्तुदाता की आज्ञा का उल्लघन करे तो उसका दड स्वयमेव भुगतना पडता है। भगवान ने हमे नाक दी है कि हम उससे श्वास ले लें और वस्तुओ की गध को सूघें। किन्तु हम उतने से ही सतुष्ट नही होते। नस्य को उसके अन्दर ठूंसने लगे हैं। यह नाक का दुरुपयोग है और कहामत है कि "जैसी करनी वैसी भरनी," इसका कुपरिणाम यह होता है कि नस्य सूघने का एक व्यसन-सा लग जाता है। यही दड है उसे भुगतना पडता है। अत हमे सतर्क तथा सावधान रहकर यह देखना चाहिए कि इद्रियो का उपयोग भगवान के निर्देश के पालन मे हो रहा है कि नही। मद्यपान मास आदि का सेवन कभी नही करना चाहिए। किसी भी आवेग या उद्रेक के अधीन होकर कभी मुंह से ऐसी वाणी उच्चरित नही करनी चाहिए जिससे दूसरो को ठेस पहुँचे या क्रोध उत्पन्न हो। इस भाति इद्रियो पर सतत निरीक्षण करना एक उत्तम तप है। मात्रा शब्द मे इतना गभीर भाव निहित है।

कठोपनिषद मे इद्रियो के विषय मे कहा गया है :—

"पराचि खानि व्यतृणत् स्वयभू तथा पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्
कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्त चक्षु अमृतत्वमिच्छन्"

परमात्मा ने इद्रियो को बहिर्मुख करके सृजन कर दिया है। इसी से इद्रियो के आकर्षण में जीव बाह्यविपयों की तरफ देखता है, अन्तरात्मा को नही। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इद्रियो को रोक लिया है ऐसा कोई धीर पुरुप ही प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। यही इस श्लोक का अर्थ है।

यहाँ इस श्लोक में पुरुष प्रयत्न पर विशेष बल दिया गया है। इद्रियाँ स्वभाव से ही बाह्य विषयगामी है। ऐसी स्थिति मे उन्हे स्वेच्छाचारी होने देना अनर्थकारी ही होगा। विवेक-रूपी बागडोर लगाकर उन्हे ठीक मार्ग पर ही रखना चाहिए। उन्हे अपने अधिकार में कर लेना चाहिए। इद्रियाँ अपने अपने भोगो से स्वय तृप्त होना जानती ही नही। यद्यपि इन पर सर्वथा रोक नही लगाया जा सकता फिर भी उनका नियमन करना आवश्यक है। उन्हे विपयो के धर्मपूर्वक उपयोग की छूट होनी चाहिए। उन्हे कदापि स्वेच्छाचारी बनने देना नही चाहिए। बहुतेरे लोग ऐसा सोचते है कि जब इद्रियों की भागदौड समाप्त हो जायगी तब मैं अध्यात्म मार्ग में प्रवेश करूँगा। किन्तु ऐसी कल्पना करनेवाले उस व्यक्ति के समान ही है जो सागर मे स्नान करने के विचार से सागर के तट पर तो गया है, परन्तु लहरे ऊँची उठने के कारण उनके शात होने पर स्नान करने की निरीक्षा मे बैठे है। लहरे कभी शात नही होंगी। उसे तो सागर मे तरगो के रहते हुए ही स्नान करना होगा। कहने का भाव यह

है कि मनुष्य को किसी कार्य के करने के लिए सुयोग की वाट नही देखनी चाहिए उसे तो अध्यवसाय मे सलग्न ही रहना चाहिए। ससार मे काटे नही होगे। यह कदापि सभव नही। अपने पैरो मे चप्पल पहन लो और उन पर चलो। कुछ लोग अपनी दुर्बलता को प्रारब्ध के ऊपर डाल देते है। यह उनकी महान् भूल है। प्रारब्ध तो सदा बना रहता है और सचेष्ट रहता है। तुम लौह सकल्प के बल से उस पर पॉव रखते हुए उसे अभिभूत कर आगे निकल जाओ। आखिर प्रारब्ध भी तो तुम्हारे ही हाथो का खेल है। नपुसक के समान "मेरा प्रारब्ध. मेरा प्रारब्ध रटते मत फिरो" भगवान का पावन नाम लेकर पुरुषसिह के समान स्वेच्छाचारी इद्रियो के ऊपर विवेकरूपी कोडे लगाओ। हार्दिक प्रयत्न करने पर भगवान की अनुकपात से तुम्हे दम की अपार शक्ति प्राप्त होगी। "उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।"

यहाँ तक हमने इद्रियो के यथार्थ स्वरूप के विषय मे विचार किया। अब हम यह देखेगे कि उनके व्यवहार मे क्या दोप है ? क्योकि किसी वस्तु के दोषदर्शन से उसके प्रति हमारा आकर्पण जाता रहता है। धर्मरूप मे प्राप्त ऐद्रिक सुख निश्चय ही योग्य है। अत हम केवल अविहित भोग के ही दोष पर विचार करेगे।

इद्रियाँ विषयो के पीछे क्यो भागती फिरती है ? यदि हम विवेक पूर्वक इस पर ध्यान दें तो पायेगे कि सुख प्राप्ति की अभि-

लाषा ही एकमात्र कारण है। वे विषयों में सुख की आशा रखती है और इसी कारण उनके पीछे पागल बनी फिरती है। किन्तु क्या उन्हे विपयो से सच्चा सुख प्राप्त होता है ? इस प्रश्न की थोडी-सी गहराई में जाते ही हमे यह उत्तर मिल जाता है कि नही। उन्हे त्रिषयो से सच्चे सुख की अनुभूति नही हो पाती। जो यह तथाकथित सुख का अनुभव होता है वह वास्तविक सुख नही है। यह तो सुख का आभास मात्र है; छाया मात्र है। परिणाम मे उन्हे दुख ही प्राप्त होता है। श्रयद् भगवद्गीता में भगवान ने इसका समुचित निर्णय दिया है ·—

"येहि सस्पर्शजा भोगा दु.खयोनय
एव ते आद्यत्यवंत्त कौन्तेय नतेषुरमते बुधः" (गीता 5-22)

अर्थात् विषयो के सस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग है वे सब दुखके योनिस्थान (जनक) है। किसी भी अवस्था मे इनको स्थिरता,नही रहती। अत: बुद्धिमान् व्यक्ति इन भोगो मे कभी भी निमग्न नही होता। भोग दुख की योनि (जन्म स्थान) है तो उन में रत रहकर सुखानुभूति की आशा को प्रश्रय देना कितना पागलपन है। इसलिए जो व्यक्ति इद्रियो के भोग मे सुख की आकाक्षा रखते है वे कितने अज्ञान मे है। भोग लिप्सा कभी कभी उन्हे प्राणांतक स्थिति मे ला धकेलती है। इस सदर्भ मे भगवद्पाद श्री आद्य शकराचार्य के एक अमूल्य कथन का स्मरण हो उठता है। उन्हों ने विवेक चूडामणि मे बताया है .—

"शब्दादिभिर्पंचभिरेव पंच पचत्वमापुस्स्वगुणैश्यबद्धा
कुरग, मातग, पतग, मीन भृगा. नर. पंचभिरचित किम् "

आचार्यजीने इस श्लोक में गागर मे सागर भर दिया है। वे कहते हैं कि शब्द से कुरग, स्पर्श से मातग, रूप से पतग, इस से मीन एव गधमे भृग ये पाँचो प्राणी केवल एक एक विषय के आकर्षण का शिकार बन मारे जाते हैं। परतु मनुप्य तो इन पाचो विषयो के आकर्षण से आक्रात है तो उसके सम्बन्ध मे क्या करना ? निश्चय ही बेचारे मनुष्य की परिस्थिति बडी ही दयनीय है।

कुरग (मृग) को पकडने वाले भूमि पर जाल विछाकर एक ऊँचे वृक्ष के ऊपर जा बैठते हैं और वहाँ से वे अपनी वीणा से मधुर सगीत लहरे छेड देते है। हिरण उस संगीत की मधुरिमा से आकर्षित जिस ओर से सगीत आ रहा है उस ओर दौडना है और जाल मे जा फँसता है। , हाथी पकडनेवाले भी भूमि मे खन्दक खोदकर उसपर टट्टियाँ बिछा देते है। और उस पर कही कही घास भी डाल देते हैं जिससे हाथी को वह सामान्य भूमी ही प्रतीत हो, परन्तु चतुर हाथी इसे ताड जाता है और वह वृक्ष की शाखा को तोडकर भूमी की भली-भाति जाँच-कर आगे पग वढाता है। यदि खन्दक के उस पार कोई हथिनी बाध दे तो उस पर हाथी की दृष्टि पडने से विवेकाध हो, उसकी ओर स्पर्श भोग करने की इच्छा से बडे तीव्रवेग से दौडता है और खन्दक मे गिरकर आजीवन मानव का वन्दी वनता है।

पतग (शलभ) तथा मीन (मछली) की विषयलोलुपता का भयानक परिणाम लोकविदित है। अत. उसकी चर्चा में न जाकर यहाँ भ्रमर का एक सुन्दर दृष्टात बताना उचित जान पडता है। क्योकि इसका चितन और मनन उद्‌बोधन के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

सन्ध्या हो चली थी। एक सरोवर में मकरन्द से ओत-प्रोत एक पूर्ण विकसित कमल पुष्प अपनी भीनी भीनी सुगन्ध विकीर्ण कर रहा था। आकाश मार्ग से जाता हुआ एक भ्रमर उस कमल की सुगन्ध से आकर्षित हो तुरन्त उस कमल पुष्प पर जा उतरा और वहाँ मकरन्द के लोभ मे इतना पान किया कि अपना होश हवाश ही खो बैठा। जब उसे होश आयी तब रात हो चली थो। कमल का यह स्वभाव है कि यह सूर्य के प्रकाश मे खिलता है और सूर्यास्त होते ही सकुचित हो जाता है। रात्रि होने के कारण पुष्प की पंखडियाँ सिमट चुकी थी। भ्रमर ने उडने का वहुतेरा प्रयास किया। किन्तु सव व्यर्थ। क्यो कि उसे वाहर निकलने के लिए कोई मार्ग नही था। वेचारा भ्रमर अव क्या करे! भविष्य के सुख स्वप्न देखने लगा —

"रातिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्री
इत्थ विचिंतयति कोशगतेद्विरेफे
हा हत्त हंत नलिनीं गजमुज्जहार"

इस प्रकार की कितनी ही रातें व्यतीत हुई हैं। यह भी व्यतीत हो जायगी। सुप्रभात होगा। भगवान अशुमाली उदय होगे। पकज प्रफुल्ल होगा। मैं उडकर चला जाऊँगा। इस प्रकार वह कल्पनाएँ कर ही रहा था कि वहाँ एक उन्मत्त हाथी आया और वहाँ के पूरे कमल नालो को समूल उखडकर नाश किया। हाय ! भ्रमर क्या सोचता था और उसकी क्या गति हुई।

यह एक दृष्टात है। इसी भाति मनुष्य भी भोगो में लिप्त रहकर मोक्ष के विषय मे सोचता रहता है। वह सोचता है कि आध्यात्मिक साधना कल करेगे। परसो करेंगे। थोडी आयु ढलने के पश्चात् करेंगे। परतु इसी बीच मे एक दिन अकस्मात् मृत्यु आती है और उसका जीवन हर लेती है। विषय सुख मे लीन रहकर आध्यात्मिक साधना दुर्लक्ष्य करना निश्चय ही एक भारी भूल है। भगवद्पाद शकराचार्य जी के उपर्युक्त उपदेश जरा गभीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के लिए पाँच विषयो का आकर्षण रहता हैं। यह बात सर्वथा सत्य है। नेत्र किसी रूप को देखने आतुर वनाता है। कान कही से मधुर शब्द सुनने की अपेक्षा करके मनुष्य को वहाँ चलने के लिए बाध्य करता है। जिह्वा अपनी रुचि के अनुभव स्वादिष्ट पदार्थों को खाने के लिए विवश करती है। इस भाति सभी इद्रियाँ मनुष्य को अपने अपने विषयो की ओर घसीटती हैं। वेचारा मनुष्य अकेला है और इद्रियाँ हैं पाँच। वह कहाँ तक उनकी कामनाओ को तृप्त कर सकता है।

इस तरह के विचार से यह विदित हो जाता है कि इद्रियाँ सहज ही चचल है और अपने विषयों की भाग-दौड लगाये रहती है। श्रेयकामी मनुष्य को चाहिए कि उन्हे अपने नियन्त्रण में रखे। परन्तु भोला मानव सुख की अभिलाषा से इसके भुलावे में आ व्यसनो का शिकार बन जाता है। बीडी, सिगरेट, भग, अफीम, नस्य आदि व्यसन ऐसे है कि एक बार उनके चुगुल मे पड जाने पर फिर उससे बच निकलना प्रायः असम्भव सा ही हो जाता है। स्त्री का व्यसन तो सिह जैसे पुरुष को कृपणा एव कातर बना देता है। "कृपणास्त्वृजितेदिय" शास्त्र ने अजितेद्रिय पुरुष को कृपण कहा है। भागवत में प्रह्लाद का कथन है कि इद्रियाँ दुष्ट भार्याओ के समान पुरुष को विकल बना देती है। थोडी देर भी शात नही रहती। यदि किसी मनुष्य की पत्नी दुष्ट हुई तो उस एक पत्नी के कारण वह अपनी मौत की घडियाॅ गिनता रहता है। भला जिस व्यक्ति के पांच भार्यायें हो और वे पाॅचों की पांचो दुष्ट हो उसकी दशा कितनी दयनीय होगी। ऐसे व्यक्ति की आपदाओ का आद्यत ही नही। यहाॅ एक छोटी सी मनोरंजक वार्ता याद आती है :—

एक राजा था। उसके एक दो नही, पाॅच पत्नियाँ थी। और वे सबके सब उद्दड एव स्वेच्छाचारी थी। राजा ने उन्हे वश में रखने का बहुतेरा प्रयास किया। किन्तु उसे निराशा ही मिली। वह बहुत ही विषण्ण हो गया। एक दिन वह चिता मग्न बैठा था। उसके मन मे आया कि मैं ही दुखी हूँ अथवा

मेरे राज्य के अन्य सभी लोगो की भी यही स्थिति है ? अपने मन के इस कुतूहल को प्रकट न कर उसने एक दिन सारे राज्य मे डिडोरा पिट्वा दिया कि सभी विवाहित पुरुष अमुक समय पर दर्बार के सामनेवाले मैदान मे उपस्थित हो। राजाज्ञा थी। उसका कौन उल्लघन करें ? निर्धारित समय पर सभी नागरिक निर्दिष्ट स्थान पर एकत्रित होने लगे। वहॉ दो स्थानो पर दो बोर्ड लगे हुए थे। प्रथम बोर्ड पर लिखा था "पत्नी के अधीन मे रहनेवाले पुरुष।" दूसरे पर लिखा था "पत्नी को अपने अधीन मे रखनेवाले पुरुष।" बोर्ड पर लेख को पढकर लोग राजा के मन के भाव जान गये और बिना किसी के कहे सुने ही सब प्रथम बोर्ड के पास कतार बनकर खडे होने लगे। दूसरे वोर्ड के पास कोई नही गया। पहले बोर्ड के पास मीलो लबी पक्ति वन गयी। राजा वहॉ खडा सब देख रहा था।

दिन ढलने को आया। किन्तु दूसरे बोर्ड के पास कोई भी व्यक्ति न गया। राजा को यह देखकर बडी निराशा हुई क्योकि जैसे व्यक्ति की उसे खोज थी वैसा एक भी व्यक्ति न मिला। इस भाति राजा चितामग्न हो वहॉ से जाने वाला ही था कि एक व्यक्ति आकर दूसरे बोर्ड के पास खडा हो गया। उसे वहाँ खडा देखकर राजा का मुख प्रसन्नता से खिल उठा। राजा उसका आलिगन करना ही चाहता था कि वह व्यक्ति कुछ सकोच के साथ पीछे हट गया। राजा को उसके इस व्यवहार से उस पर सन्देह हुआ। उसने पूछा कि सामने के बोर्ड पर जो लिखा है उसका अर्थ भली भाति समझ लिया। "जी, हाँ" उस व्यक्ति

ने उत्तर दिया "महाराज, क्या करूँ ? यदि पत्नि की आज्ञा न मानूँ तो एक पल भी निर्वाह नही हो सकता। राजा ने ठिठक कर पूछा "तब प्रथम बोर्ड के पास जाकर क्यो नही खडा होता ?" उस मनुष्य ने कहा "महाराज, अपराध क्षम हो। घर से चलते समय ही मेरी पत्नी ने मुझे आदेश दे दिया था कि जहाँ सब खडे होते हो वहाँ न खडा होना। दूसरे बोर्ड के पास ठहरना। आपकी आज्ञा का उल्लघन भले ही हो किन्तु पत्नी की आज्ञा का पालन तो प्रत्येक दशा में करना ही है।" राजा आश्चर्य चकित रह गया।

इस कहानी से हमे व्यक्ति की वास्तविक स्थिति का पता चलता है। सामान्य व्यक्ति की तो बात ही जाने दीजिए। समाज मे तथाकथित सभ्य एव महान् गिने जानेवाले भी जिन्हे लोग श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते है वे भी इद्रियो की दासता से मुक्त नही है। असयत इद्रियाँ दुष्ट भार्याओ के समान होती है। जिसकी प्रत्येक उचित अथवा अनुचित मार्ग को क्रीत-दास की भाति पूरा करना पडता है। आज ससार में इतनी अशाति दृष्टिगोचर हो रही है वह सब इन इद्रियो की दासता के कारण ही है। ऐसी दशा मे हमारा तात्कालिक कर्तव्य क्या है ? इन इद्रियो को अपनी वशवर्ती बनाना है आज्ञाकारी इद्रियाँ पति-व्रता पत्नियो के समान होती है। पतिव्रता पत्नियाँ सख्या मे चाहे कितनी भी हो चिता नही। वे सब पुरुष की सुख सुविधा की वृद्धि ही करती है। पुरुष की हितैषी होती है। दृष्टि स्त्रियो के रूप में रहनेवाली इन इद्रियों को पतिव्रता स्त्रियो के रूप में

कैसे परिवर्तित करें ? यह हमारे सम्मुख बहुत बडा प्रश्न है। इस प्रश्न के समुचित समाधान का प्रयास हमे अवश्य ही करना चाहिए।

ऊपर हम देख चुके है कि इद्रियाँ अपने अपने विषयो की ओर अहर्निश भागती फिरती है और अपने साथ जीव को भी घसीटती फिरती है जिससे उसकी यात्रा की गति कुठित हो जाती है। यदि जीव किसी भी सार्थक उपाय से अपनी इद्रियो पर नियन्त्रण पा ले तो उसकी यह यात्रा निर्विघ्न तथा अनावश्यक विलब के बिना समाप्त हो सकती है। यहाँ हम इद्रियो को अपने वश मे लाने के उपाय पर विचार करेगे।

वल पूर्वक इद्रियो का विरोध सम्भव नही है। और यह न उचित ही है; क्योकि ऐसी दशा मे, जब कभी असावधानी के कारण वे नियन्त्रण से बाहर हुई तो जीव को इतने नीचे ला धकेलती हैं कि वहाँ से फिर ऊपर आ सकना कठिन ही होता है। सारी प्रगति एक क्षण मे नष्ट हो जाती है। अत. उनके नियन्त्रण की सफल और विशिष्ट विधि है उन्हे उचित प्रशिक्षण द्वारा विषयो से उपराम करना। इस सन्दर्भ मे भगवान श्रीकृष्ण का एक उपदेश स्मरणीय है और वह है क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभागयोग मे "इद्रियार्थेषुवैराग्यम्" (13–9) अर्थात क्षेत्रादि इद्रियो के शब्दादि विषयो के प्रति वैराग्यवान् होना चाहिए। वैराग्य रूपी लगाम से इद्रिय रूपी अश्वो का नियन्त्रण करना चाहिए। इद्रियो को विषय भोगो की तुच्छता का ज्ञान हो जाय तो वे

निश्चय ही उनके लिए लालायित नही होगी। अत: इद्रियो को विषय भोगो से विरत करने के लिए भोगो के दोषदर्शन की आवश्यकता है। आइए देखे, विषयों मे क्या दोष है।

ऐंद्रिक सुख क्षणिक है। गीता में इसके प्रति भगवान का प्रबोध है "आद्यतवत कौन्तेयनतेषुरमतेबुध" (5–22) पडितजन इंद्रिय विषय-समुत्पन्न भोग-सुख मे आसक्त नही होते, क्योंकि वे क्षणभंगूर स्वभाववाले है। उदाहरणार्थ किसी को लड्डू खाने की लालसा हुई। वह दो लड्डू लेकर खाने लगा दो लड्डूओ के साथ ही उनका सुख समाप्त हो गया। यदि इसके पश्चात् भी उससे खाने के लिए आग्रह किया जाय तो उसके खाने में उसे सुख का अनुभव नही होगा, प्रत्युत दु ख ही होने लगेगा। स्पर्श सुख के विषय में, किसी भी इद्रिय का भोग क्यों न हो, यही परिणाम होता है। इस भाति ऐद्रिक सुख आद्यतवान् होने से हेय है। ऐसा अनुचिंतन कर उसके प्रति निरपेक्ष भाव अपनाने से "इद्रियार्थेषुवैंराग्य" प्राप्त होता है।

ऐंद्रिक सुख काल्पनिक तथा भ्रामक होता है। मनुष्य को किसी विषय का उपभोग करते समय उससे जो थोडी-सी तुष्टि होती है, उससे वह सोचता है कि वह आनन्द उसे उस विषय पदार्थ से प्राप्त हुआ, किन्तु वास्तव मे यह बात नही है। यदि उसे विषय से सुख प्राप्त होता तो वह उस विषय को भोगने से कभी विराम न लेता है। यह एक सर्व सामान्य विषय है कि मनुष्य के सामने चाहे कितना भी स्वादिष्ट पदार्थ रख दिया जाय, किन्तु

एक निश्चित मात्रा खा चुकने के अनन्तर वह और अधिक खाना नही चाहता। यदि उसे वास्तव मे स्वादिष्ट भोजन से सुख मिलता तो और अधिक सुखोपभोग के लिए और भी खाता। अत सुख खाद्य पदार्थ मे नही है, यह सबके अनुभव की बात है।

ऐंद्रिय भोगो मे परवशता है। किसी वस्तु की इच्छा होने पर उसको प्राप्त करना तथा भोगना यह सब व्यक्ति के वश की बात नही है। पहले तो यदि प्रारब्ध का बल न हो तो इच्छित वस्तु प्राप्त ही नही होती। यह प्रारब्ध की परवशता है। प्राप्त वस्तु का भोग भी परवश ही है। एक व्यक्ति को मैं जानता हूँ। उसके यहा अच्छी खेती होती है, वह नौकर-चाकर, धन-सम्पत्ति आदि से सपन्न है। किसी वस्तु का अभाव नही है। परन्तु जब थाली मे खाना उसके सामने रखा जाता है तब वह उसे देख कर खा नही पाता। कारण उसे चावल के दाने सफेद कीडो जैसा दीखने लगते है। वह घृणा से मूँह फेर लेता है। उस बेचारे के भाग्य मे प्राप्त वस्तु का भोग नही लिखा गया है। केवल रोटी या अन्य वस्तुएँ खाकर वह अपना जीवन व्यतीत करता है। इसके कारण वह बहुत ही दुखी है। इसके अतिरिक्त इन ऐंद्रिय भोगो को हम जहाँ चाहे, जितनी देर चाहे भोग नही सकते। इस क्षेत्र मे मानव अतीव परवश है। कहा गया है कि "सर्वं परवश दु खम्"। यदि भोगो मे परवशता है तो उन मे फिर सुख कहाँ ?

ऐंद्रिय भोगो से कभी तृप्ति नही होती । इसके विपरीत तृष्णा तथा वासना उत्तेजित होती है जिससे मन और भी अशांत बनता है । राजा ययाति का चित्र हमारे सम्मुख एक उज्ज्वल उदाहरण है । उसका कहना है "न जातु काम· कामानामुय भोगेन शाम्यति हविषा कृष्णवत्मेन भूयएवाभिवर्धते ।"

विषयो की कामना विषयो के भोग से कभी शात नही होती है । किन्तु हवि डालने से अग्नि की ज्वाला के सदृश और भी अधिक बढती है । उन्होंने अपने समूचे जीवन का यह कटु अनुभव हमारे सामने रखा कि भोग का उपभोग करते हुए उससे तृप्ति पाना असभव है । इस प्रकार बार बार चितन करते रहने से इद्रियार्थों में वैराग्य की उत्पत्ति हो सकती है ।

ऐंद्रिय भोगो से निःशेष सुख की प्राप्ति नही होती । अणु मात्र ऐंद्रिय सुख विशाल पर्वत जैसे दुख के साथ मिश्रित रहता है । पहले तो इन्हे प्राप्त करने के लिए घोर श्रम उठाना पडता है । जब प्राप्त होगये तो उनके सरक्षण की चिता सदा आक्रांत किये रहती है । और यदि संयोगवश छिन गये, खो गये अथवा क्षीण होगये तो आजीवन उनके वियोग का शोक बना रहता है । भर्तृहरि ने वैराग्यशतक में कहा है :—

"भोगे रोग भय, कुलेच्युति भय, वित्त नृपालाद् भयम्
माने दैन्य भयं, वने रिपुभयं, रुपेजराया भयम्
शास्त्रे वादि भय, गुणे खल भयं, काये कृतांतद्भयमे
सर्वं वस्तु भयान्वित भुविनृणांवैराग्यमेवा भयम्"

भर्तृहरि का कथन है कि इस भांति मानवीय संबन्ध के प्रत्येक पदार्थ भयप्रद है। हाँ, एक स्थान निर्भय है और वह है वैराग्य। इस श्लोक का सतत चिंतन करते रहने से विषय पदार्थों के प्रति राग जाता रहता है।

इसके अतिरिक्त यदि मनुष्य को यह मालूम हो जाय कि वाह्य पदार्थों में सुख नही है। मरीचिकाओ के पीछे भागनेवाले की पिपासा कभी भी नही मिटती। मनुष्य विषयो मे सुख समझकर ज्यो ज्यो उनकी ओर भागता है त्यो त्यो वे और भी दूर होते जाते हैं। मनुष्य के सुख का उद्गम स्थान आत्मा है। जब मनुष्य को अपनी आत्मा के सुख की अनुभूति होने लगेगी तो वह विषय सुख की ओर से स्वय पराङ्मुख हो जायगा। इद्रियो के विषयो से प्राप्त होनेवाले तथा कथित सुख मे जहाँ परवशता है वहाँ आत्म सुख के लिए किसी आलबन की आवश्यकता नहीं होती। इसके अनुभव करने मे व्यक्ति पूर्ण स्वतत्र है। जहाँ चाहे वही और जिस स्थिति में चाहे उस स्थिति मे अपनी भावना का स्विच् लगाकर इस सुख अनुभूति कर सकता है। जब मनुष्य स्वय सुख स्वरूप है तो फिर सुख की प्राप्ति के लिए दूसरो की दासता वह क्यो स्वीकार करे। जब उसे अपनी आत्मा मे ही सुख प्राप्त हो तो वह इसके लिए विषयो पर क्यो निर्भर रहे ? उनके लिये क्यो दीन बनें ? जब कभी मनुष्य पर विषयो का आकर्षण आक्रमण कर अपना प्रभाव जमाना चाहे तो उपर्युक्त सरणी से विचार कर वह उससे विरत हो सकता है। इस

साधना से मनुष्य मानव से माधव बन जाता है। नर से नारायण मे परिवर्तित हो जाता है। जन से जनार्दन के पद पर पहुँच जाता है। कहाँ अनन्त गरिमामय यह आत्म सुख और कहाँ वह अत्यन्त हेय इद्रिय भोग आत्म सुख की अनुभूति जिस व्यक्ति को प्राप्त होती है उसकी उदात्त स्थिति का वर्णन गीता के शब्दो मे सुनिए .—

"बाह्यस्पर्शे ष्वसत्कात्मा विदन्त्यात्मनि यत् सुखम्
सब्रह्मयोग युक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते" (5-21)

अर्थात् शब्दादि बाह्य विषयो से आसक्ति शून्य व्यक्ति अंत:करण मे ही शांति, सुख अनुभव करता है और तदनन्तर ब्रह्मयोग युक्त होकर अक्षय सुख लाभ करता है। आत्म सुख की साधना से मनुष्य कितनी उच्च भूमिका को पा लेता है इसकी कल्पना कीजिए।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में त्रिगुण सुख का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। उसका भी यहाँ उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा। राजसिक और तामसिक सुख के विषय में उनका कथन है.—

"विषयेन्द्रिय सयोगाद्यत्तदग्रे ऽमृतोपमम्
परिणामेविषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्" (18-38)

"यदग्रेचानु बन्धेचसुख मोहनमात्मनः
निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्" (18-39)

जो सुख विषय तथा इद्रियो के सयोग से उत्पन्न होता है, एव प्रथमत अमृतवत् और अन्त मे विष के तुल्य प्रतीत होता है, वह राजसिक सुख है। जो सुख आदि और अन्त मे भी बुद्धि को मोहमुग्ध बनाता है तथा निद्रा एव तन्द्रा मे उत्पन्न होता है, उसे तामसिक सुख समझना चाहिए। उपरोक्त श्लोको का यही अर्थ है।

अव जरा गीताकार से सात्विक सुख की परिभाषा सुने —

"यत्तदग्रेविषमिव परिणामेऽमृतोपमम्
तत्सुख सात्विक प्रोक्तमात्मनुबुद्धि प्रसादजम्" (18–37)

अर्थात् सात्विक सुख प्रथमत विष के तुल्य प्रतीत होता है। परतु परिणाम मे अमृत के समान सिद्ध होता है। इतना ही नही इससे आत्मविषयिनी बुद्धि को प्रसन्नता उत्पन्न होती है।

यह सुख राजसिक और तामसिक सुख से विलकुल अच्छा दीखता है और प्रथम दृष्टि मे मनुष्य पूर्वोक्त गुणो से सम्मोहित हो जाता है। किन्तु विवेकी पुरुष को इन सुखो के अपनाने मे अपने पूर्ण विवेक से काम लेना चाहिए। इस सात्विक सुख से भी अधिक श्रेयस्कर एक सुख है जिसका वर्णन गीता मे निम्नाकित रूप मे किया गया है —

"सुखमात्यतिक यत्तद् वुद्धिग्राह्यमतीद्रियथ्"—आत्यतिक सुख इद्रियातीत होकर केवल शुद्ध एव सूक्ष्म वुद्धि का ही ग्राह्य

विषय बन सकता है। यह सुख ही आत्म सुख है। इस सुख की गरिमा का सतत चितन करते रहने से मनुष्य विपय सुख के जाल मे नही पडता।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या इंद्रियो के भोगो का सर्वथा त्याग सम्भव है ? यदि नही तो उनसे कैसे बचा जाय ? इन विषयो को सर्वथा त्यागा नही जा सकता, किन्तु उनके कुपरिणाम से बचा जा सकता है। विषयो के उपयोग मे सुख बुद्धि नही होनी चाहिए। उनमे सुख की छाया अवश्य रहती है, किन्तु उनका परिणाम दुखद ही होता है। धर्म पूर्वक प्राप्त हुई वस्तुओ के सेवन से परिमित मात्रा मे इद्रियो का सुख सब कोई भोग सकता है। क्षुधा की शाति के लिए जब भोजन करते है तो उससे सुख की प्राप्ति तो होती ही हैं। इस सुख को ईश्वर का प्रसाद मानकर उसका उपभोग करना चाहिए। उपभोग करते समय यह स्मरण रखना चाहिए —

"ईशावास्यमिदंसर्वं यत्किंचजगत्यांजगत्।
तेनत्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

इस ससार मे जो कुछ भी है, वह सब ईश्वरमय है। अत त्याग के साथ भोग करे। किसी के धन के प्रति वासना भी न रखे।

सब वस्तुएँ ईश्वर की है। मुझे वह प्रारब्ध के अनुसार भगवान के अनुग्रह से ही प्राप्त हुई है, ऐसा सोचकर पहले उसके

स्वामी परमात्मा को अर्पित करके फिर उपभोग करें। इस भाव को अपनाने से न तो इद्रियाँ आपको विचलित कर सकेगी और न वे स्वैरिणी बनेंगी।

इद्रिय-नियत्रण का एक उपाय और भी है जो अमोघ माना जाता है। वह है सत्सगति। इसकी महिमा का सम्यक् वर्णन नही किया जा सकता। भगवद्पाद शकराचार्य ने कहा —

"सत्सगत्वे निस्सगत्व निस्सगत्वे निर्मोहत्व
निर्मोहत्वे निश्चल तत्व निश्चलतत्वे जीवन्मुक्ति."

सत्सग से निस्सग भाव उदित होता है। उससे निर्मोहत्व की स्थिति प्राप्त होती है। निर्मोहत्व से निश्चलतत्व और निश्चल तत्व से जीवन्मुक्ति की उत्तम स्थिति उपलब्ध होती है। इस भाति सज्जनो की सगति से जब जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है तो इद्रिय नियन्त्रण की बात ही क्या?

जिस भाति पतिव्रता स्त्रियो के साथ रहनेवाला मनुष्य सुख पूर्वक अपना जीवन यापन करता है उसी भाति इद्रियो को अपने वश मे रखनेवाला व्यक्ति भी अपनी जीवन-यात्रा सुखपूर्वक पूरी कर सकता है।

अब तक इद्रियो के विषय में चर्चा हुई। अब मन, बुद्धि तथा आत्म के सम्बन्ध मे जिज्ञासा कर लेगे।

मन

कठोपनिषद मे मन को 'बागडोर' कहा गया है। इस तरह कहने का एक विशेष तात्पय है। बागडोर-रूप मन या तो इद्रियाँ रूपी घोडो के अधीन रहकर अधोगामी रहता है या बुद्धि-रूपी सारथी के वश में रहकर इद्रियो के निग्रह में समर्थ बनता है। पूर्वोक्त स्थिति है—इद्रियो के वेग तथा व्यसनो के अधीन रहना, तथा उत्तरोक्त स्थिति है—ऊर्ध्वमुख बन कर बूद्धि के तादात्म्य से विवेकी बनकर रहना। मन की ये दो अवस्थाएँ क्रमश. अशुद्ध एव शुद्ध मन के नामों से जानी जाती है। इंद्रियों के वश रहनेवाले मन के विषय मे भगवदगीता का कथन है:—

"इंद्रियाणां हिचरतां यन्मनोनु विधीयते
तदस्यहरतिप्रज्ञां वायुर्नाविमिवांभसि"

इस कथन का समाधान श्रीकृष्ण इस तरह करते हैं :—

" असशयं महाबाहो मनोर्दुनिग्रह बल
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येणच गृह्यते "

—हे अर्जुन, तुम्हारा सत्य है कि मन बडा ही चचल होता है। उसे निग्रह करना बडा ही कठिन कार्य है। फिर भी वह अभ्यास और वैराग्य से वशीभूत किया जा सकता है। मनो-निग्रह "वायोरिव सुतुष्करम्" कठिन कार्य अवश्य है किन्तु असभव नही। उसके मार्ग है—अभ्यास और वैराग्य। ये दोनो निरतर आचरणीय हैं। इसके लिए पहले मन के यथार्थ रूपकी जान-कारी प्राप्त करलेनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे कुछ महा पुरुषों की श्रुति, युक्ति तथा अनुभवयुक्त युक्तियो की यहाँ जान लेगे जिससे हमे विषय को समझने मे सुविधा रहे।

मन के सम्बन्ध मे दो तरह के निर्वचन बताये जाते है "मननान्मन" एव "सकल्पविकल्पात्मक मनः" अर्थात् मन हमेशा कुछ न कुछ मनन करता ही रहता है। अत इसका नाम मन रखा गया है। इसी तरह सदा सकल्प और विकल्प करते रहने के कारण भी यह मन कहलाता है। यह एक क्षण के लिए भी शात नही रह सकता। कई बार सकल्पों की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि इसका एक क्रम नही रहता। उनके वेग के कारण मनुष्य कभी कभी पागल भी हो जाता है। आधुनिक मनस्तत्व वेत्ताओं का विचार है कि आजकल अधिकाश रोगो के

मूल मे यह अस्तव्यस्तता ही है। कभी कभी ध्यानादिक से सकल्पो की उधेडबन से मन का पल्ला छुडावर उसे कुछ विश्राम देना चाहिए। लोहे की मशीनो को भी कभी विश्राम चाहिए अन्यथा वह काम नही करेगे। मन को थोडी देर वुद्धि के सहारे थामने का अभ्यास न करे तो वह पागल वन जाता है। प्राकृतिक रूप मे उसे निद्रा मे विश्राति मिलती है। वही काफी नही है। जागृतावस्था मे यदि इन का वेग वढ जाता है तो निद्रा भी नही आती।

मनुष्य को सदा जागरुक रहना चाहिए। नियम पूर्वक ध्यानभ्यास होना चाहिए। यदि वह अभ्यास क्रम रूप मे क्रियाशील रहा तो कई रोग जो दैहिक तथा मानसिक होते हैं स्वय ही नष्ट हो जाते है। आजकल 'मनस्तत्व चिकित्सा विधान' प्रचलित रूप मे व्याप्त हो रहा है। केवल मन की रुग्णता के कारण ही अधिकतर रोग उत्पन्न हो रहे हैं। निद्रा के अभाव की शिकायत इसी का प्रभाव है। सकल्पो की व्यस्तता से मन को एकात बनाने से ही उसे विश्राति प्राप्त होती है।

प्रगाढ निद्रा मे हमे जो आनन्द प्राप्त होता है उसका कारण मन सकल्प विकल्पो से विरत है और निर्विषय वन गया है। यदि जागृत अवस्था मे भी उसे निर्विषय एव निस्सकल्प बना सके तो निद्रा मे मिलने वाला आनन्द जागृत रहकर भी प्राप्त कर सकते हैं। निद्रा के सुख को 'आनन्द' की सज्ञा देना उतना उपयुक्त नही है। क्योकि वहाँ जडता है। अविद्या है। जागृत अवस्था

में ज्ञान रहता है, सजगता है। जागृत अवस्था की साधना से स्फूर्ति उत्साह और शक्ति प्राप्त होती है। इसकी विलक्षणता, श्रेष्ठता असाधारण आनन्द सततम् अभ्यास और तीव्र साधना से अनुभव कर सकते हैं।

यहाँ पर हमे एक मुख्य विषय पर ध्यान देना चाहिए। इस तरह की साधना मे आरम्भ से ही मन निस्सकल्प एव शुद्ध होना वहुत कठिन काम है। दिव्य ज्ञान समाज मे वैज्ञानिक रीति से ध्यान साधना करनेवाले योगीजन इस सम्बन्ध मे कहते हैं कि मन एक उद्यान की भांति है। उद्यान में जो घातक पौधे होते हैं उन्हे माली उखाड फेकता है। उसके साथ ही जो पौधे उद्यान की शोभा बढाते है उनकी प्राणो से रक्षा करता है। अर्थात् मन के अन्दर रहनेवाले राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणो को नष्ट कर देना चाहिए और उसके विपरीत प्रेम, शांति, सहनशीलता आदि गुणों का परिपोषन करना चाहिए। जिस व्यक्ति को क्रोध के कारण कष्ट या हानि हो उसे सदा शांति के विषय विचार करते रहना चाहिए। शांतिश्शातिश्शांति: जप करना चाहिए। बार-बार जप, स्मरण तथा चिंतन से क्रोध दुर्वल वन जाता है और शाति दृढता से मन मे समाविष्ट हो जाती है।

कुछ लोग क्रोध रूपी दुर्गण से पीडित होकर परिणाम में उसकी निन्दा करने लगते हैं। किन्तु क्रोध का नाम तक नही लेना चाहिए। केवल इसके विपरीत गुण शांति के विषय में वरा-

बंर स्मरण करना चाहिए। इस तरह का अभ्यास प्रारभ में साधक के लिए बडा लाभदायक है।

मन के लिए किसी प्रकार का सहारा होना चाहिए। सगुण एव साकार पूजा का विधान केवल इसी कारण किया जाता है। मन बाह्य रूप मे समस्त वस्तुओ एव व्यक्तियों के साथ व्यवहार करता रहता है। उसे अतर्मुखी बनना हो तो अभ्यास के प्रथमकाल मे सगुण का आधार लेना चाहिए। शाति, शम, यम, प्रेम आदि सद्गुणो का चितन ही मन के लिए आधार वनाना उचित है। सद्गुणो के समावेश से मन शुद्ध होकर मोक्ष का मार्गगामी वन सकता हैं।

मन के मलिन होने का एकमात्र कारण इद्रियो के व्यसनों से लिप्त होकर रागद्वेष के वशीभूत होना हैं। इस सम्बन्ध मे भगवद्गीता कहती है —

> "इद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ,
> तयोर्नवशमागच्छेत्तौह्यस्य परि पंथिनौ" (3-34)

तात्पर्य है कि इद्रियो और उनके विषयो के वीच रागद्वेष ही मनुष्य के प्राणघातक शत्रु है और है वडे वलवान्। जव कभी मन में राग और द्वेप का उद्भव हो तो समझना चाहिए कि मन इनमें अभिभूत हो पतनोन्मुखी हो चला है। राग और द्वेप रूप शत्रु की मनान है अहन्ता और ममता। अहंता और ममता वडे

ही उपद्रवी है। यदि मनुष्य इनके अधीन हुआ तो उसकी दुर्दशा का क्या कहना है। इसे निम्नाकित आख्यायिका में देखे .—

एक ग्राम में एक किसान रहता था। वह धन, अधिकार, अज्ञान और युवावस्था से सपन्न था। नीति शास्त्र का कथन है :—

> "यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता
> एकैकमप्यनर्थाय किमुयत्र चतुष्टयम्"

अर्थात् उपर्युक्त चार वस्तुओ में एक एक के अस्तित्व से ही मनुष्य अनर्थ को प्राप्त होता है। जिस व्यक्ति के पास ये चारो विद्यमान हो तो उसकी स्थिति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

अस्तु, वह किसान अपने गाँव का एक तरह से राजा ही था। उसी ग्राम मे एक निर्धन किसान भी रहता था। एक दिन दोनों के बैल चरने के लिए गये थे। दैवयोग से निर्धन किसान के एक बैल ने धनी व्यक्ति के बैल को मार डाला। जब गरीब किसान को इस बात का पता चला तो वह बहुत ही भय-भीत हो मन ही मन सोचने लगा कि जब उस धनी क़िसान को मालूम हो तो वह मेरा सत्यानाश कर डालेगा। इस आशका से वह कापता हुआ उस धनी किसान के यहाँ इस उद्देश्य से जा पहुँचा कि विनीत भाव से उसे निवेदन करके किसी तरह उसे

शात कर दे। उस समय वह धनी व्यक्ति कुछ खाकर डकार लेते हुए घर से बाहर आ रहा था।

भय की स्थिति मे मनुष्य का मन घबरा जाता है और वह कुछ का कुछ कह बैठता है। निर्धन किसान ने दीन भाव से हाथ जोडकर कपित स्वर मे कहा—"महाराज, गजब हुआ। आपके बैल ने मेरे बैल को मार डाला।" धनी किसान ने सुन लिया। उसने कहा—"ऐसी बात है, भाई! क्या कहे मनुष्य ही जब परस्पर लडते हैं तो एक दूसरे को मार डालते हैं, फिर पशुओ का क्या कहना! आखिर पशु ही तो ठहरे। जाने दो, अपने घर वापस चले जाओ।"

निर्धन किसान ने समझ लिया कि कहने मे गोल मोल हो गया। उसके शांत वचनो से थोडा धैर्य आया और यथार्थ बात कह सुनाई। जब धनी किसान को यह मालूम हुआ कि उसी का बैल मारा गया है तो उसके नेत्र लाल हो गये। क्रुद्ध होकर कहने लगा—"क्या कहा, तेरे बैल ने मेरे बैल को मारा है? पाच सौ रुपये लाकरके इसी क्षण जमा कर दे, नही तो तेरी अच्छी तरह खबर लूंगा।"- देखिए, अहन्ता और ममता का क्या प्रभाव हो सकता है!

मन सत्य का हिंसक है। इस तरह कहने का कारण यही है कि वह सदा अहन्ता-ममता से युक्त रहता है। अत वह वस्तु को उसके वास्तविक रूप मे देख नही पाता। वह अपनी वासना

के अनुसार ही देखता है। दूर पर एक सूखा स्तम्भ खडा है। शाम का अन्धेरा कुछ कुछ धनीभूत होने लगा। इतने में चान्दनी आयी। एक विट ने अपनी प्रेयसी को एक निश्चित स्थान पर आकर उसी समय मिलने के लिए कह रखा था। वह भी उसी समय निकला था। वह सूखे स्तभ को देखकर समझने लगा कि मेरी प्रियतमा मुझसे पहले ही वहाँ आकर खडी है। वह मुझे कितना प्रेम करती है। ऐसा समझकर द्रुत गति से उस ओर चलने लगा। दूसरी ओर से उसकी प्रेयसी निकली, वह उसी स्तभ को अपना प्रियतम समझने लगी। एक पुलिस चोर की खोज उधर आ निकला। वह उस स्तभ को चोर समझकर उसे पकडने के लिए आगे बढा। वह स्तभ न तो प्रेयसी है, न प्रेमी है और न चोर है। ये सभी भाव कल्पित है और इसी तरह मन अपनी वासना के अनुसार सारे संसार की नित्य नयी रचना करता रहता है।

योगवासिष्ठ में वसिष्ठजी अपने शिष्य श्रीरामचन्द्र से कहते है:—

'येनैव लिंगिता काता तेनैवालिंगिता सुता
मन एव मनुष्याणां कारण बन्ध मोक्षयो''

मनुष्य जिन अगो से अपनी पत्नि का आलिगन करता है उन्ही अंगो से पुत्री का भी आलिगन करता है। उसके अंग वही हैं और आलिगन की क्रिया भी वैसी ही है, परन्तु पत्नि और पुत्री के भाव-परिवर्तन से विकार भेद पाया जाता है सभी

प्रापचिक सम्वन्ध इसी भाव भेद से निर्मित होते हैं। इससे प्रकट है कि जीवन की सभी घटनाएँ मन का ही खेल है। इसी कारण वेदात-शास्त्र मे ससार को केवल मन की ही सृष्टि कहा गया है। इस मन-निर्मित ससार को ही मनुष्य अपने अज्ञान के कारण सत्य समझ लेता है। आइए, इस कथन की सत्यता का अपने दैनिक जीवन के अनुभवो से परीक्षण करे।

मन जव बाह्य रूप मे व्यवहार करने लगता है तो उसे जागृत अवस्था कहते है। हमारे सारे दैनिक व्यवहार इसी अवस्था मे होते है। इस अवस्था मे चार लोग ही वस्तु को देखते हैं, किन्तु सभी उस वस्तु को एक रूप मे देखते हो सो वात नहीं है। वे उसे भिन्न भिन्न रूपो मे देखते हैं। एक को वह प्रिय लगती है तो दूसरे को वह घृणास्पद दीखती है। एक को वह सुखद प्रतीत होती तो दूसरे को दुखद। ससार में घटनेवाली सभी घटनाएँ भी है इसी तरह भिन्न-भिन्न परिणाम देनेवाली दीखती हैं। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति की मृत्यु होती है तो उसके मित्र-जन वडे दुखी होते हैं, परन्तु उसके जो शत्रु होते हैं वे उस दिन खुशी से फूले नही समाते। अफीमची का मुख अफीम को देखते ही प्रसन्नता से खिल उठता है; किन्तु जिस व्यक्ति को उसकी आदत नही होती, उसे अफीम पर दृष्टि पडते ही घृणा होती है। एक को लड्डू पसन्द होता है तो दूसरे को मास। ये सब विविधताएँ क्या है ? मन का ही खेल है, अत. ससार केवल मनोमात्र है मनोनिर्मित है।

आध्र प्रात के कडपा जिले में एक सन्त हुए है जिनका नाम ब्रह्माजी था। उनके शिष्यों में सिद्ध नामक शिष्य उनको अत्यन्त प्यारा था। एक दिन भोजन के पश्चात् ब्रह्माजी ने अपने शिष्य से प्रश्न किया "अरे, सिद्धा ! ससार कैसा है ?" सिद्धा ने उत्तर दिया "क्या कहूँ गुरुदेव ! प्रत्येक व्यक्ति का संसार अपना अपना अलग ही है।" सब लोग एक ही जागृत अवस्था मे रहते हुए भी अपने अपने ससार की सृष्टि कर लेते है। यदि गहराई से सोचे तो ससार सत्य नही है। इसी कारण इसमे इस तरह की विविधता पायी जाती है।

और भी, मन रात के समय अन्तर्मुख होता है। वहाँ स्वप्नलोक की सृष्टि कर लेता है। इस स्वप्नावस्था में यद्यपि वहाँ कुछ नही है फिर भी जागृदवस्था की सृष्टि के समान घर-वार, वृक्ष, पर्वत, नर-नारी आदि की सपूर्ण सृष्टि दीखती है। शास्त्र मे कहा गया है कि मनहिता नामक सूक्ष्म नाडी से स्वप्न प्रपच की सृष्टि करता है। वह सृष्टि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अपनी सृष्टि है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि यह सृष्टि असत्य है। क्योकि यह सभी लोगो के अनुभव की बात है। भागवत् मे प्रह्लाद ने स्वप्न और जागृत् प्रपच को समान बतलाया है। अर्थात् स्वप्नलोक जितना असत्य है जागृतलोक भी उतना ही असत्य है। ये दोनो अवस्थाएँ केवल मन-कल्पित हैं। इनके अतिरिक्त एक अवस्था और भी है जो सुषुप्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे मन पूर्णरूप से अविद्या में लीन हो जाता है। अविद्या ही मन की उत्पत्ति का स्थान है; अत. मन की उत्पत्ति के लिए

अविद्या ही उपादान कारण मानी जाती है। मन जब अपने मूल-स्रोत अविद्या मे लीन हो जाता है तब संसार का भान नहीं होता। यहाँ संसार के अभाव का एकमात्र कारण है मन का न रहना। अत मन है तो संसार है, यह अन्वय है, और मन नहीं तो संसार नहीं, यह व्यतिरेक है। यह अनुभव अपने नित्य प्रति के जीवन का है। इस तरह जब हम गंभीर होकर विचार करें तो स्पष्ट रूप मे ज्ञात होगा कि यह सारा संसार मन का निर्मित खेल ही है।

रमण महर्षि ने एक स्थान पर कहा कि मन ही माया है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई अलग माया नही है। यदि हम उनके अस्तित्व के विषय मे जान लें तो विज्ञान का उदय होने मे कोई शका नही है। एक बार एक वृद्धा स्त्री रमण महर्षि के पास आकर कहने लगी "हे भगवान, मन मुझे बहुत परेशान करता है। वह चचल होकर मुझे अशान्त बनाता है। मैं आपकी शरण मे आई हूँ। कृपया मुझ इसके कष्टो से बचाइए।" यह सुनकर महर्षि ने अपने एक शिष्य को बुलाकर कहा कि देखो, इस बूढ़ी माता से पूछो कि मन कहाँ है और कैसा है। जब वह बता दे तो तब उस शत्रु को धक्के देकर भगा दो। वृद्धा स्त्री से पूछा गया कि मन रूपी शत्रु कहाँ है और कैसा है? भला, वह बेचारी क्या बतलाती। आखें बन्द करके अन्दर देखने लगी। परन्तु मन का कही पता न लग सका। परन्तु इससे यह मान बैठना कि मन जैसी कोई वस्तु है ही नही ठीक न होगा। मन का अस्तित्व अवश्य है क्योकि इतने विशाल विश्व का सूत्रपात वही कर रहा

है। इसका अस्तित्व मायामय है। इसी कारण ज्ञानी जनो ने कहा है कि मन ही माया है। केवल मन के स्तर पर जीवन यापन करने वाले माया के खेल मे उलझे रहते है। ऐसा समझना चाहिए। मन से श्रेष्ठ बुद्धि है तथा उससे श्रेष्ठ कूटस्थ आत्मा है। प्रकाश तथा आनन्द इस आत्मा के लक्षण है। महात्मा लोग मन के क्षेत्र को पारकर बुद्धि तथा आत्मा के क्षेत्र मे स्थित होकर अपने जीवन को देखते है। अत वे माया से तटस्थ होने के कारण उसके अस्तित्व के विषय मे सम्यक् ज्ञान रखते है।

मन की इस स्थिति के कारण ही शास्त्र में कहा गया है कि मन दोषमय है। उसके चार मुख्य दोष है और वे है—भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा। वस्तु को वास्तविक रूप मे न जानकर असत्य रूप मे जानना ही भ्रम दोष है। जब इस भ्रम की स्थिति मे किसी वस्तु या व्यक्ति को जानते है तो प्रमाद दोष का होना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति हमारे पास आया है। वह हमारे मित्र के रूप मे आया और हम भ्रम से उसे शत्रु समझ ले तो कुपरिणाम क्या होगा ! इसे बतलाने की आवश्यकता नही है। करणापाटव का अर्थ इद्रियो की अशक्तता है। करण का अर्थ है इद्रिय एव अपाटव का अर्थ है अशक्तता मन किसी भी विषय का ज्ञान सीधे प्राप्त नही कर सकता। इसके लिए उसे तद्विषय-इद्रिय की सहायता अपेक्षित होती है। किन्तु इद्रियों की क्षमता सीमित होती है। यदि मन को किसी भी वस्तु को देखना होता है तो वह नेत्रेद्रिय के द्वारा देखता है। आंख सब वस्तुओ को जहाँ से चाहे और जब चाहे वहाँ से उसी

समय नही देख सकती। इसी भाति अन्येद्रियो से भी मन विषयों को जानता है। किन्तु इन इद्रियो के अपाटव के कारण वस्तु को उसके यथार्थ रूप मे ग्रहण नहीं कर सकता। अतिम दोष विप्रलिप्सा जो घृणा एव मत्सर कहलाता है। यह दोष सब से भयकर होता है। इसके कारण मनुष्य तत्काल पतित बन जाता है। इससे मानव की अद्‌भुत शक्ति केवल व्यर्थ ही नही जाती, प्रत्युत् घातक भी बन जाती है। इसका दृष्टात देखें।

एक गुरु के पास दो शिष्य थ। वे सदा परस्पर कुढते रहते थे। इसकी ज्वाला से वे सदा सतृप्त रहते थे। दोनो ही एक दूसरे को नीचा दिखाने के कुत्सित भाव से तपस्या करने के लिए निकल पडे और पर्वत की कन्दरा मे उग्र तपस्या मे सलग्न हो गये। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान उनमे से एक के सम्मुख प्रकट हुए और वर मागने को आदेश दिया। उसने तुरन्त वर न मागकर अपने प्रतिद्वद्वी की स्थिति जाननी चाही। उसे जब भगवान से पता चला कि अभी तक वे उसके पास नही गये और यहाँ से सीधे उसी के पास जानेवाले हैं तो वह बडे असमजस मे पड गया कि कौन सा वर माँगा जाय। इसकी तपस्या का मुख्य हेतु तो अपने प्रतिद्वद्वी को नीचा दिखाना था। यदि उसने पहले कुछ वर माग लिया और उसके प्रतिद्वद्वी को इसका पता चल गया तो वह यथेष्ट वर प्राप्त कर लेगा जिससे इसको बडी क्षति होगी। अत इसने एक-उपाय ढूंढ निकाला और भगवान से प्रार्थना की "भगवान्, आप मेरे शत्रु को जो वर दें उससे मुझे दुगना प्राप्त हो जाय। इसे अपनी सूझ पर बडा

सतोष हुआ। किन्तु हुआ इसके विपरीत। वहाँ से चलकर भगवान दूसरे तपस्वी के पास पहुँचे और उससे अपना अभीष्ट मागने के लिए कहा। अपने प्रतिद्वद्वी की भाति ही उसने तुरन्त वर नही मागा। पहले यह जान लिया कि भगवान ने उसके शत्रु को क्या वर दिया है। मालूम होने पर पहले तो वह बहुत व्याकुल हुआ। कुछ सोच विचार के बाद उसने भगवान से अपना एक नेत्र नष्ट होने का वर मांगा। उसका उद्देश्य था कि मेरे एक आख भले ही चली जाय किंतु दूसरे के दोनों आखे जाती रहे। देखिए विप्रलिप्सा का क्या प्रभाव है। उग्र तपस्या के द्वारा भगवान का साक्षात्कार करके भी उनके वर कितने अनिष्ट का कारण सिद्ध हुए। इस तरह मन के दोषों से जो व्यक्ति विमुक्त होना चाहता है उसे मन के स्वरूप से भली भाति परिचित होना चाहिए। मन को बुद्धि के अधीन बना लेना चाहिए। बुद्धि सदा आत्मा के निकट रहने के कारण आत्मा के प्रकाश से युक्त रहती है। मन यदि ऊर्ध्वमुखी होकर बुद्धि के अधीन हो तो यह भी मनुष्य के लिए अनर्थ कारी न बन उसका बडा ही हितकारी बन सकता है।

मन को अंत:करण भी कहते हैं। अत करण का अर्थ है अन्दर रहनेवाला साधन। इस अन्त: करण का अपना एक सस्कार होता है। उसी के अनुसार इद्रियो को अधिष्ठान कर वह व्यवहार करता है।

दार्शनिक ग्रन्थो में अन्त·करण एक दर्पण के समान बताया गया है। यह दर्पण यदि शुद्ध रहा है तो सर्व व्यापी आत्मा का

प्रतिबिंब स्वच्छ गोचर होता है और चूँकि आत्मा सच्चिदानन्द हैं अत उसे हमे ब्रह्मानन्द की अनुभूति प्राप्त होती है। परन्तु हमारे जीवन मे ऐसा घटित ही हो रहा है। हमारा अन्तः करण रूपी दर्पण स्वच्छ न होने के कारण हमे बाह्यानन्द का अनुभव नही हो रहा है। अन्त करण के शुद्ध होते ही मन जहाँ-जहां जायगा वहाँ-वहाँ समाधि का आनन्द प्राप्त होगा। इसी कारण कहा गया है "यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधय ।" उस समय मन हमारी इच्छा के अनुकूल चलनेवाला एक साधन बन जाता है। अर्थात् हम जब चाहे तब समाधि का अनुभव कर सकते हैं। निद्रा का अनुभव अपनी इच्छा के अनुसार कर सकते हैं। या जागृत अवस्था मे रह कर परम शाति का अनुभव कर सकते है। अन्त करण अशुद्ध एव दोषपूर्ण रहने के कारण ही हम परम शाति आदि का अनुभव नही कर पा रहे है। आइए देखे कि यह अन्त करण किन दोषो के कारण इस भाति मलिन बन गया है।

हमारे ऋषि, मुनि इस सम्बन्ध मे खूब छान बीन करने के अनन्तर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारा अन्त करण मल, विक्षेप तथा आवरण रूपी तीन दोषो से युक्त है। हम पहले कह चुके हैं कि अन्त करण एक दर्पण के समान है। मान लीजिए आप एक दर्पण के सामने खडे हैं। यदि वह दर्पण मैला है तो आप अपना प्रतिबिंब भली भाति नही देख सकते। उसी तरह यदि वह विक्षेप स्थिति मे अर्थात् हिलडुल रहा है तो आप प्रतिबिंब को ठीक नही देख सकेगे। ऐसे ही यदि उस पर कोई आवरण

पडा है तो भी आप प्रतिबिंब का दर्शन यथावत् नही कर पायेंगे। इतना जान लेने के पश्चात् अब हम अन्त.करण के इन तीनो दोषों के वास्तविक स्वरूप तथा उनसे निवृत्ति के उपायो के सम्बन्ध में विचार करेगे।

इन मे से पहला दोष मल है। गत जन्मो में और इस जीवन में आजतक किये गये हमारे पापकर्म ही मल के कारण हैं। पापकर्म का यह दोष हमारे अन्तःकरण को अच्छादित कर लेता है। पापकर्म की मात्रा के अनुरूप ही अन्त.करण मलिन बनता है।

इस प्रसग में यहाँ यह बतला देना अनावश्यक न होगा कि इधर उधर झाककर मनुष्य अज्ञानवश यह समझ लेता है कि यहाँ कोई नही है। कैसे भी बात करे और कैसा भी दुष्कर्म करे यहाँ कोई सुनने वाला अथवा देखनेवाला नही। परन्तु किसी के न देखने पर भी वह उसके परिणाम से बच नही सकता ऐसा क्यो? भगवान तो सर्वत्र हैं। उनकी अध्यक्षता मे यह सारा सृष्टि-चक्र गतिशील है। गीता मे कहा गया है कि "मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्"

उनकी अध्यक्षता में जब यह ससार चल रहा है तो वे सर्वत्र देखते ही रहते है। अत. मानव को अपने कर्म के अनुरूप उसका फल अवश्य चखना होगा। इसका परिहार किसी भी रूप मे नही हो सकता।

एक बार एक गुरु ने अपने बारह शिष्यो को आम के फल देकर आदेश दिया कि वे किसी एकात स्थान पर जा कर फल खाये

जहाँ कोई न हो। उनमे से ग्यारह विद्यार्थी विजन स्थल मे फल खाकर शीघ्र वापस आ गये। परन्तु एक ने नही खाया। गुरु के कारण पूछने पर उसने कहा "महात्मन, आपने ही कहा कि भगवान सर्व व्यापी है। मुझे इस उपदेश का स्मरण बार-बार आ रहा है। अत. एकान्त स्थल प्राप्त नही हो सकने के कारण मैं फल नही खा सका।" गुरु प्रसन्न हुए। वे तो इस भाति केवल उनकी परीक्षा लेना चाहते थे। उन्होने उससे कहा कि अव तुम्हे ज्ञान प्राप्त हो चुका है। इस कारण तुम जा सकते हो। अन्य ग्यारह शिष्यो को और अधिक समय तक साधना करने की आज्ञा दी। भगवान सर्वव्यापक है। सर्व द्रष्टा है। केवल अन्त करण के मल के कारण मनुष्य उनके दर्शन से वचित रहना है और भाति-भाति के कष्टो मे फँस जाता है।

दूसरा दोष विक्षेप है। विक्षेप का अर्थ है चन्चलता तथा अस्थिरता। इस चचलता के कारण कोई भी साधन सुचारू रूप से नही चल पाता। यह ध्यान तथा समाधि की सिद्धि मे एक वडा ही अन्तराय है। साधना के क्रमिक रूप से न चलने के कारण मनुष्य अशान्त होता है। उसका अमूल्य मानव जन्म यो ही नष्ट हो जाता है। हम प्राय यह अनुभव करते हैं कि अच्छे कार्यो मे हमारा मन सहकारी नही होता है। जहाँ सत्सग चल रहा हो वहाँ श्रवण करने के लिए वैठे या सद्ग्रन्थ को लेकर पढने लगे तो जम्हाइयाँ आने लगती हैं। निद्रा का इतना जोर मालूम होता है कि वहाँ वैठा नही जाता। अच्छी वात है 'थोडी

देर सो कर उठेंगे' इस विचार से बिस्तर पर जायें तो नींद आती ही नही। प्रत्युत् मन हैद्राबाद, बबई आदि शहरों में चक्कर काटने लगता है। इधर श्रवण के लिए बैठे तो सुनने नही दिया। पोथी को भी उसी तरह पढने नही दिया तथा इधर निद्रा का सुख भी पाने नही दिया। मन की ये दोनो अवस्थाएँ बहुत ही अशांति कारक होती है और उनके नाम हैं शून्याग्रता एव अनेकाग्रता ये दोनो स्थितियाँ विक्षेपरूपी मालिन्य के दोष का प्रभाव ही है। इन दोनो के अतिरिक्त मन की एक और अवस्था है जो एकाग्रता के नाम से विख्यात है। यह उत्तम स्थिति एव शातिकारक भूमिका है। ससार में मानव जीवन की सभी सफलताओं की यह कुजी है। इसके बल पर हम अपने मन को जहाँ चाहे, जिस विषय पर चाहे और जब चाहे एकाग्र कर सकते है। इसके द्वारा मनुष्य को अपने सभी अध्यवसायो तथा साधनाओ मे सफलता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उपयुक्त अन्य दोनो अवस्थाएँ दुखदायी है। अनवरत अभ्यास करके हमे अपने मन को उन दोनो स्थितियो से विमुक्त करलेना चाहिए तथा तीसरी स्थिति जो एकाग्रता कही गयी है उसमे रमण करने की आसक्ति को समृद्ध बनाना चाहिए।

तृतीय तथा अन्तिम दोष है आवरण। अज्ञान ही इसका मूल कारण है। इस अज्ञान के कारण मनुष्य को अपने स्वरूप का अनुभव नही हो पाता। मानव के सामने कुछ मौलिक प्रश्न हैं। वह कौन है? कहाँ से आया है? मरणोपरान्त कहाँ जाता है? आखिर वह क्यो पैदा हुआ है? इन मौलिक प्रश्नो के

समाधान के बारे मे वह चिंतन नही करता। अन्धा बैल जिस तरह खेत मे चरने लगता है उसी तरह अनजान में अज्ञान मे मानव अपना जीवन नष्ट कर रहा है। कुछ लोग खाने, पीने तथा मौज उडाने को ही जीवन की इति श्री समझते हैं। ऐसा समझने का एकमात्र कारण यह आवरण दोष है। केवल खाने-पीने तथा इद्रिय भोग के लिए ही अमूल्य मानव-जन्म नही है, इसका लक्ष्य तो भगवत्-प्राप्ति है। इस परमोत्कृष्ट ध्येय के लिए जीवन-यापन न करनेवालो को सम्बोधित कर कबीरदास कहते हैं —

"रात गँवायी सोइकर दिवस गँवायो खाय
हीराजन्म अमोल था कौडी बदले जाय"

यदि कोई व्यक्ति एक अमूल्य रत्न को कौडी के बदले दे देता है तो लोग उसे कितना बडा मुर्ख समझते है। उसी तरह रात को सोने मे तथा दिन को खाने मे और भोग पदार्थों के भोग एव सग्रह करने मे जीवन को नष्ट करनेवाले उसी मुर्ख के समान है।

देवदुर्लभ मानव जन्म को यो ही नष्ट करने को प्रेरित करनेवाले इस आवरण रूपी दोष को अकुठित दीक्षा एव सतत साधना के बल से दूर करना चाहिए। अत करण को निर्मल बनाना ही हमारा एक मात्र कर्तव्य है। इस तरह अन्त करण रूपी दर्पण को जब हम निर्दोष बना लेते हैं तब आत्म-दर्शन प्रतिफल रूप ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है। अन्त करण के इन दोषो का निराकरण कैसा किया जाय ? इस दर्पण को कैसा

स्वच्छ बनाया जाय ? इस सम्बन्ध में यथावकाश चर्चा कर लेंगे।

पहले हम कह चुके है कि अन्त.करण का प्रथम दोप मल है और उसका मूल कारण हमारा किया हुआ पाप है। भगवान ने हमे विवेक-रूपी अमूल्य उपकरण प्रदान किया है। इसके द्वारा पुण्य एव पाप मे भली-भाति अवगत होकर हम पाप का निराकरण तथा पुण्य सचय कर सकते है। इस विवेक रूपी कसौटी पर कस कर जो काम समाज तथा लोकहित का हो सकना है उसी का सुसपादन करते रहे तो मल दोष की निवृत्ति अवश्य हो सकती है।

मनुष्य की जीवन-विधि को ध्यान से देखा जाय तो ज्ञात होता है कि वह किसी अनिष्ट पाप-फल को नही चाहता; किन्तु पाप-कार्य को वह छोडता नही। अत कहा गया है—

> "पुण्यस्य फलमिच्छति पुण्य नेच्छति मानवा
> न पाप फलमिच्छति पापं कुर्वतियत्नत"

लोग एक ओर तो पुण्य-कार्य न करते हुए भी उसके फल की कामना करते है और दूसरी ओर पाप-फल को चाहते नही, परन्तु पापकार्य प्रयत्न पूर्वक करते रहते हैं। देखिए जीवन कितना हास्यास्पद है! जब पुण्य का फल चाहते हैं तो पुण्य कार्य अनिवार्य रूप से करना ही चाहिए। उसी भाति पाप-फल की इच्छा नही है तो पापकार्य पूर्णत परित्याग करना चाहिए। अन्यथा बबूल के बीज बोकर आम के स्वादिष्ट फल की आकाक्षा करनेवालो के समान भग्नाश ही होना पड़ेगा। मानव की यह

दयनीय स्थिति वस्तुत: क्यो है ? इसका एक मात्र कारण यही है कि वह अपने विवेक का सदुपयोग नही कर रहा है। यदि अपने विवेक का समुचित उपयोग करे तो वह इस दीन-हीन स्थिति से विमुक्त हो सकता है।

पुण्य प्राप्ति का एक मात्र साधन प्राणि मात्र की सेवा करना है। शास्त्रो में कहा गया है कि अपने कार्य से यदि किसी भी अन्य प्राणी को सतोष होता है तो वह ईश्वर पूजन ही है। महर्षि वसिष्ठ ने श्रीरामचन्द्र जी को यह उपदेश दिया है—

"येनकेन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः
सतोष जनयेत्प्राज्ञ तदेवेश्वर पूजनम्"

अर्थात् कोई भी मन, वाणी तथा शरीर से किसी भी रूप मे किसी अन्य प्राणी को सतोष पहुँचा सकता है वह व्यक्ति प्राज्ञ है और ऐसा कार्य ईश्वर पूजन कहलाता है।

यह सब विवेक के सदुपयोग से सरल रूप मे सम्पन्न हो सकता है। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि हमारा जीविकार्जन केवल धर्मानुकूल होना चाहिए। शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ती के साधन अन्याय पूर्ण एव अवैध नही होने चाहिए। धर्म-विहित मार्ग का अनुसरण करते हुए ही जीवन निर्वाह करना चाहिए। यदि जीविका का आर्जन गृहस्थी के लिए पर्याप्त नही है और निकृष्ट रूप मे जीवन यापन हो रहा है तो न्यायमार्ग मे धर्मानुकूल होकर आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए इस मार्ग मे अपने को सफलता प्राप्त करने की भगवान से हार्दिक प्रार्थना करनी चाहिए। दृढ निश्चय से भगवान के

ऊपर विश्वास रखते हुए धर्ममार्ग मे ही अपनी स्थिति को सुधारने मे जो तत्पर रहता है उसें अवश्य सफलता प्राप्त होती है। शका के लिए कोई स्थान ही नही है। भगवन्निर्भर होकर अटल एवं अचचल दोक्षबद्ध होना ही शर्त है।

परतु इस मार्ग मे प्रगति जल्दी प्राप्त नहीं होती। इसके लिए धैर्य की अपरिहार्य आवश्यकता है। इतना ही नही इस प्रयत्न में कभी कभी कष्टो का भी सामना करना पडता है। इस तरह भगवान के ऊपर अडिग विश्वास के साथ अपने प्रयत्न में तत्पर रहते हुए जीवन-यापन करनेवाला व्यक्ति अन्त में अवश्य सफल मनोरथ होता है। इसके लिए आवश्यकता है सदा सत्कर्मो मे सलग्न रहने की। धर्म-प्रशस्त मार्ग से आर्जित आय से ही जीवन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ती करनेवाला व्यक्ति अपने अन्त करण के मल दोष को दूर कर सकता है। इतना ही नहीं बल्कि उसका नित्य प्रति का जीवन ही आनन्दमय एवं पूर्ण प्रसन्न बन सकता है।

अन्त:करण का दूसरा दोष विक्षेप है। विक्षेप का अर्थ है चचलता। मन की चंचलता के निवारण के लिए नित्य नियम-पूर्वक ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिए। ध्यानाभ्यास के बल से मन को एकाग्र बनाना सहज सभाव्य है। ध्यान के अभ्यास के प्रारभिक दिनो में यदि मन का सूक्ष्मावलोकन करे तो ज्ञात होगा कि मन दशो दिशाओ मे अविराम गति से भ्रमण करता रहता है। वह एक पल भी लक्ष्य पर स्थिर नही रहता। हम ध्यान के लिए बैठे हैं और समझते हैं कि ध्यान कर रहे है, परन्तु

मन छिपकर इधर उधर भाग निकलता है। उसे एकाग्र करने के लिए हम जितना ही तीव्र प्रयास करते हैं वह उतना ही अधिक चचलता का प्रदर्शन करता है। परन्तु मन के इस दुर्दांत स्वभाव का यह अर्थ कदापि नही कि उसको स्थिर अथवा एकाग्र बनाना नितात असभव है। यह कार्य दुष्कर है अवश्य, पर असभव नही। हमारे प्राचीनकाल ऋषियो ने इसके अचूक साधन निर्धारित किये है। महर्षि पतजलि का कथन है'—

"सतुदीर्घकालनैरतर्य सत्कारसेवितोदृढ भूमि"

वह (अभ्यास) वहुत काल पर्यन्त निरतर व्यवधान रहित सत्कार पूर्वक अनुष्ठान करने से दृढ अवस्थावाला हो जाता है। कभी किसी भी दशा मे निराश नही होना चाहिए। मनुष्य अभ्यास द्वारा इस ससार मे क्या नही कर सकता ? देखे न, सर्कस मे युवतियाँ अभ्यास के वल से पतली सीरज्जु पर दौडती हैं और स्थूल काय हाथी अविरल प्रयास द्वारा आश्चर्य कार्य कर दिखाते हैं। अत इसमे कोई सन्देह नही कि श्रद्धापूर्वक सतत अभ्यास के द्वारा मन की चन्चलता भी दूर की जा सकती है।

इस सदर्भ मे मन की चन्चलता को दूर करने के लिए कुछ उपायो के विषय मे विचार कर लेना आवश्यक होगा। मन को एकाग्र एव निस्सकल्प बनाने के अभ्यास-काल मे हमे मन से अपने को भिन्न तथा उसका द्रष्टा समझना चाहिए। मन का उद्भव-स्थान क्या है, इस पर विचार करना चाहिए और मन से कहना चाहिए "तू जहाँ से आया वही वापस चला जा।" इस

भाति उसे अपने से पृथक समझने पर वह निर्वीर्य बन जाता है। मन के साथ हमारे तदाकार होने पर ही उसमें उठनेवाले सकल्पों को हमे अपने साथ उठा ले जाने की क्षमता प्राप्त होती है। यहाँ यह वात भली भाति समझ लेना चाहिए कि मन की चच-लता सकल्पो की बाहुल्यता के रूप मे ही प्रकट होती है। सकल्प के प्रस्फुट होने के साथ ही हम उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर बैठते है और इसी कारण हमे उसके प्रवाह मे बहना पडता है। सक्षेप में कहने का भाव यह है कि सकल्प हमारी आत्म-सत्ता से ही शक्ति पाकर बलवान बनता है। यदि सकल्प के उठने पर हम अपने को उससे सर्वथा पृथक अनुभव करे तथा द्रष्टा के रूप में स्थित होकर निर्विकार दृष्टि से देखे तो मन हमें अपने साथ घसीट नही सकता। इतना ही नही वरन् वह अपने वश में रहनेवाला हमारा एक उपयुक्त उपकरण भी वन जाता है। केवल तटस्थ भाव से मन की मायावी गतियों को सार्थकता पूर्वक देखते रहने से उसकी चाल नही चल सकती। इसी को महा-भारत के शांति पर्व मे उत्तम तपस्या की सज्ञा दी गई है।

यहाँ एक बात यह स्मरणीय है कि यदि मनुष्य मन को अपना स्वरूप समझता है मन उसे अपना क्रीतदास वना लेता है। इस प्रकार मन के साथ व्यक्ति के तद्रूप होने पर वह उस व्यक्ति का सहयोग पाकर अनन्त शक्ति सपन्न वन जाता है और उसे ही नचाने लगता है। कहना न होगा कि यह शक्ति उसे स्वय अपने से ही उपलब्ध होती है। अतः व्यक्ति का प्राथमिक कर्तव्य यह है कि वह सकल्प के उठते ही सद् असद् का विचार करे। यदि

सुकल्प सद् हुआ तो उसे स्वीकृति दी जा सकती है और यदि असद् हुआ तो उससे घृणा न कर केवल उसकी उपेक्षा करना तथा उससे असहयोग करना चाहिए। इस प्रकार की साधना से कोई भी सकल्प साधक को विचलित नहीं कर सकता। यही उत्तम तप है जो उठते-बैठते खाते-पीते अपने घर में रहकर किया जा सकता है।

प्राय कभी-कभी ऐसा होता है कि लाख प्रयत्न करने पर भी निद्रा नही आती, मन चचल हो उठता है। ऐसे समय पर यदि हम उपर्युक्त साधना का आश्रय लें तो मन की आशाति दूर होकर निद्रा आने लगती है। यदि निद्रा न भी आयी तो कम से कम एक तरह की ऐसी शाति तो प्राप्त होती ही है जिससे शरीर मे श्राति का अनुभव नही होता। शरीर सामान्य रूप से स्फूर्त बना रहता है और निद्रा के अभाव जन्य कोई बेचैनी प्रतीत नही होती।

यहाँ इस सम्बन्ध मे कुछ महात्माओ के निजी अनुभवो की चर्चा करना असगत न होगा। एक महात्मा का अपने निजी अनुभव के आधार पर कथन है कि अहग्रहोपासना के द्वारा मन की चचलता विदूरित होती है। इसी को सोह की साधना तथा स्वरूपानुसधान भी कहते हैं। 'सोऽह' मे दो शब्द हैं—'स' तथा 'अहम्'। स का अर्थ है सच्चिदानन्द ब्रह्म तथा अहम् का अर्थ है 'मैं'। श्वास प्रश्वास के साथ इस सोहम् मन्त्र को सयोजित करना चाहिए। इसे अभ्यास मे मन को लगाने से वह उसी में आनन्द लेने लगता है और उसकी चचलता जाती रहती है।

गायत्री मंत्र का ध्यानपूर्वक जप करने से भी मन एकाग्र हो सकता है। इस मन्त्र के जप में दो प्रकार की उपासनाएँ बतायी गयी है और वे प्राणोपासना एव ब्रह्मोपासना हैं। इन उपासनाओ का श्रद्धापूर्वक अभ्यास करने से अन्त:करण की चचलता का दोष दूर होकर व्यक्ति का जीवन सफल बन सकता है।

अन्त:करण का आखिरी दोष आवरण है। इसी को अज्ञान भी कहते हैं। यह केवल ज्ञानार्जन से ही दूर किया जा सकता है। प्रतिनित्य सद्ग्रन्थ पठन एव सज्जन-संगति अवश्य करनी चाहिए। मरण से पूर्व ही मानव को अज्ञान की निवृत्ति कर लेनी चाहिए। उपनिषद् ने ऐसे व्यक्ति को आत्महत्यारा कहा है जो व्यक्ति मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी ज्ञान प्राप्त नही कर सकता है और अमूल्य जीवन को काता और कनक के पीछे व्यग्र रहकर नष्ट कर डालता है। अत. हम सभी लोगो का यह प्रथम कर्तव्य है कि तीव्रेच्छा से सद्ग्रन्थ पठन, मनन तथा सत्सग करते हुए अज्ञान का निरासन करे और जीवन के सत्य से अवगत हो जाय।

जब मन अपने दोषो से विमुक्त हो जाता है तव शुद्ध रहकर आत्म प्रकाश से विलसित होता है। ऐसे ही मन को भगवान अपने उपकरण के रूप मे स्वीकृत कर लेता है। इसका एक उदाहरण के रूप मे जान लेगे।

श्रीकृष्ण के हाथ मे रहनेवाली मुरली पर एक बार सत्यभामा की दृष्टि पड़ी। वह समझने लगी "इस मुरली ने कितना

पुण्य किया है ! श्रीकृष्ण कभी इसको छोडते ही नही। कभी-कभी क्यो, बहुधा इसे वह अपने मधुर अधर पर चढाते हैं। तात्पर्य है कि वह सदा श्रीकृष्ण के स्पर्श से मधुरता का अनुभव करती रहती है। मै भी सर्वदा श्रीकृष्ण का स्पर्श सुख चाहती हूँ। परन्तु कृष्ण मेरी उत्कट इच्छा की पूर्ति करते ही नही। मैं इस मुरली से पूछ कर यह रहस्य जान लूँगा कि उसका जैसा भाग्य मुझे भी प्राप्त हो। परन्तु यह बहुत बडी समस्या हो गयी कि उसे कृष्ण जी छोडते ही नही तो पूछे कैसे ? सत्यभामा की उद्विग्नता सीमा पर पहुँच गयी। श्रीकृष्ण जी इसे जानकर एक बार मुरली को ऐसे ही नीचे रख कर निद्रा का अभिनय करने लगे। सत्यभामा को मौका मिल गया और वह मुरली को लेकर दूसरे कमरे मे भाग गयी। उससे प्रश्न करने लगी "हे मुरली, तुमने पूर्व जन्म मे कौन-सा पुण्य किया है जिससे श्रीकृष्ण का अटूट स्पर्श सुख का सौभाग्य मिला ? वह तो तुम्हे छोडते ही नही। मैं भी तुम्हारी तरह उनके सस्पर्श से सर्वदा सुखी रहना चाहती हुँ। कृपया वह रहस्य मुझे बताओ तुम्हे भारी पुण्य प्राप्त होगा।" तब मुरली ने सत्यभामा से पूछा कि देखिए मेरे अन्दर क्या है ? बताइए। सत्यभामा ने झाककर उसके अन्दर देखा तो क्या है ? कुछ नही है। केवल खोखला है। उसने मुरली से कहा "तुम्हारे अन्दर कुछ भी नही है।" तब मुरली ने उसे समझाया कि तुम भी यदि अपने मन को सब दोषो से अर्थात् अहकार ममकार आदि अज्ञान से विमुक्त करके शून्य बना लो तो भगवान ही उसका सचालक होगे और उस समय

उनसे अभिन्नता की अनुभूति उपलब्ध होगी। यह भाव कितना हृदयगम है और प्रबोधमय है !

अन्त.करण के इन तीनो दोषो को तत्काल निवृत्त करने का एक उत्तम उपाय है। उसके अनुसार जीवन की सभी घट-नाओ को भगवान के प्रसाद के रूप मे स्वीकार करना चाहिए। नौकरी मे रहने से महीने भर का वेतन एक बार मिलता है तो यह नही समझना चाहिए कि महीने भर मेरे परिश्रम का यह फल है। प्रत्युत् यह समझना चाहिए कि यह भगवान का दिया हुआ प्रसाद है। यह उनके अनुग्रह का परिणाम है। मैं जब काम करता हूँ तो उनकी सेवा करता हूँ और वह उसी समय उनके कैन्कर्य के रूप में अर्पित हो गया है। वेतन उनका दिया हुआ प्रसाद है जिससे मुझे फिर उनकी वे अमूल्य-सेवा करने की शक्ति इससे उपलब्ध होती है। सब कार्य In His Name होना चाहिए। इस तरह के जीवन को भगवन्मय बताया गया है। भागवत में यदुमहाराजा को यतीष्ठर इसी का विधान उपदेश देता है :—

"कायेनवाचामनसेंद्रियैर्वा बुध्यात्मना वा प्रकृतेस्वभावात्
करोमियद्यत्सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्"

(एकायश स्कन्ध 36 श्लोक)

अर्थात् शरीर से, वाणी से, मन से, इद्रियो से, बुद्धि से, अहकार से अथवा अनुगत स्वभाव से जो कुछ कर्म करे वह सब परमात्मा नारायण के ही लिए है—इस प्रकार समर्पण कर दे। इसको भागवतमार्ग कहा गया है।

इस मार्ग मे जब जीवन समाविष्ट हो जायगा तब आगामि, सचित एव प्रारब्ध ये सभी कर्म भस्मीभूत हो जायेगे । वास्तविक तथा सच्ची भक्ति यही है। इस तरह की भक्ति की जितनी अधिकता होगी उतना ही अद्भुत फल उत्पन्न होगा। इसके परिणाम के बारे मे भी भगवान के उसी एकादश अध्याय मे ही अन्यत्र बताया गया है —

"यह्र्यब्जनाभ चरणैषणयोरु भक्तया
चेतोमलानि विधमेद् गुण कर्मजानि
तस्मिन्विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्व
साक्षाद्यथामलदृशे सवितृप्रकाश."

कमलनाभ भगवान् विष्णु के चरणकमलो की इच्छा उतनी ही तीव्र हो जाय जितनी आसक्ति प्रापचिक विपयो मे होती है। उस तीव्र भक्ति रूपी अग्नि द्वारा जीव अपने चित्र के गुणकर्म सम्भूत मलो को दग्ध कर देता है और उस समय उसके शुद्ध हो जाने पर आत्मतत्व उसी प्रकार स्पष्ट भासने लगता है जिस प्रकार निर्मल नेत्र वाले को सूर्य भासित होता है।

उसके पश्चात् अविद्या सम्बन्धी प्रतिवन्ध अकुरित नहीं होते । ऐसी स्थिति मे मन निमल होकर साधक के वशीभूत होता है। मन को अपने वश मे कर लेने की इच्छा रखनेवालो को मन के सम्बन्ध मे जो विश्लेषण वताया गया है—लाभकारी होने मे शका नही है। इस तरह मन की जिज्ञासा समाप्त होती है।

बुद्धि

इसके पूर्व हम कह चुके है कि जीव की जीवन यात्रा में जीव के लिए बुद्धि सारथी का कार्य करती है। यदि बुद्धि अच्छी स्थिति मे है तो वह मनुष्य को ठीक पथ पर ले जानेका एक उत्तम साधन बन जाती है। बुद्धि की परिभाषा है— "निश्चयात्मिका बुद्धिः"। इससे ज्ञात होता है कि यह किसी विपय का निश्चय करके बतानेवाली है। निश्चय करने का अवसर उस समय उपस्थित होता है जब कि किसी वस्तु या विपय के सम्वन्ध मे असमजस उत्पन्न होता हो। परन्तु वहुधा यह देखा जाता है कि कई बार जटिल स्थिति के आ जाने पर हम शीघ्र निर्णय नही कर पाते है और यदि निर्णय कर भी लेते हैं तो वह प्राय: या तो असमीयीन होता है या अयथार्थ। हाँ, मनीषी एव महात्मा लोगो की बात इससे सर्वथा भिन्न होती है। उनकी बुद्धि बहुत ही सूक्ष्म तथा कुशाग्र होती है। कितनी भी

कठिन समस्या क्यो न हो वह विद्युत के समान झट सही निश्चय कर लेती है और सामान्य जनता के लिए वह मार्गदर्शक बनती है। वस्तुत ऐसे ही लोग बुद्धिमान् कहलाते हैं। इसी बुद्धि शक्ति को अतर्वाणी भी कहते है। महात्मा गाधीजी प्रायः कहा करते थे। "मेरी अन्तर्वाणी इस तरह कहती है"। उनकी जीवनी का अध्ययन करें तो जो रहस्य की बात ज्ञात होती है वह यह है कि वे ध्यान को भोजन तथा जल से भी अधिक आवश्यक मानते थे। इस कथन की सत्यता को जानने के लिए हमें किंचित गभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

यह ठीक है कि शरीर के लिए भोजन नितात आवश्यक है। उसके बिना शरीर जीवित नही रह सकता और यही कारण है कि अधिकाश लोगो का सारा ध्यान भोजनादि के मग्रह मे ही सलीन रहता है तथा अन्दर रहनेवाले जीव की स्थिति और उन्नति के विषय मे उपेक्षा ही करते रहते हैं। यह कितनी दयनीय बात है कि हम अपने कल्याण के पथ से ही अपरिचित हैं। वास्तव मे देखा जाय तो हमारा जीवन मुख्यत. जीव के विकास पर ही निर्भर है। अत प्रत्येक व्यक्ति को यह बात हृदयगम कर लेनी चाहिए कि आतरिक विकास ही अपना वास्तविक विकास है।

जिस प्रकार स्नान भोजनादि से शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति होती है और शरीर को शक्ति प्राप्त होती है उसी भाति जीव भी ध्यानादिक से पुष्ट बनता है। उसकी उन्नति आध्या-

त्मिक भावना के मनन और चिंतन से होती है। वस्तुत: यह शरीर तो दो दिन का मेहमान है किन्तु शरीर का अन्तर्यामी जीव शाश्वत है। अत किसी महात्मा ने चेतावनी देते हुए कहा कि जो लोग देह को ही स्वय समझकर तादात्म्य हो कर उसके सुखके लिए ही जीवन का सारा समय लगाते हैं उनका जीवन जीवन नही है। किन्तु तथ्य की बात तो यह है कि वही मृत्यु है क्यों कि देह मरण धर्मा है और उसके साथ एक हो कर जीवन चलाने वाले व्यक्ति को मृत्यु ग्रस्त ही समझना चाहिए।

जीव के विकास के लिए ध्यान पोषण प्रदान करता है। उससे स्वरूपानुभूति के आनन्द की प्राप्ति होती है। इस सत्य से अवगत होने के कारण ही महात्मा गाधीजी उपर्युक्त बात कहा करते थे। ऐसा अभ्यास रखनेवाले ही बुद्धि को प्रखर करके अतर्वाणी का अनुभव कर लेते हैं।

बुद्धि का दूसरा नाम विज्ञान भी है। पंचकोशों के नाम लेते समय इसे ही विज्ञानमयकोश कहा करते है। किसी बाह्य वस्तु के सम्वन्ध मे विश्लेषण करते समय यह विज्ञान के नाम से अभिहित होता है और यही किसी आतरिक विषय के चिंतन में लगने पर निर्णय करते समय बुद्धि कहलाती है। इस तरह यह दुधारी तलवार है। इसी की उन्नति पर मनुष्य की उन्नति निर्भर करती है।

मनुष्य की यात्रा के साधनों में बुद्धि बहुत ही सूक्ष्म वस्तु है। अत भगवद्गीता कहती है:—

'इद्रियादि मराण्माहु इद्रियेभ्य' परमन
मनसस्तु पराबुद्धिर्योबुद्धे दरतस्तु स "

अर्थात् स्थूल देह से इंद्रियां सूक्ष्म होती। उनसे मन और मन से बुद्धि सूक्ष्मतर होती है उससे भी आत्मा और सूक्ष्मतम होती है। बुद्धि के पश्चात् आत्मा की उपस्थिति वताने का अर्थ यह हुआ कि बुद्धि आत्मा के निकट रहती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा का प्रकाश बुद्धि के माध्यम से मन तत्पश्चात् इद्रियां और अन्त में देह के द्वारा वहिर्गत होता है। यह सब जानते हैं कि आत्म प्रकाश अतीव स्वच्छ होता है। देहेद्रियादि उपाधियां यदि निर्मल है आत्मा का शुभ्र प्रकाश काहर भी प्रकट होता है। किन्तु हमारे जीवन मे जो इस प्रकार का अनुभव नही हो पाता है उसका एक मात्र कारण है--हमारे देहेद्रियो की मलिनता। इसके मालिन्य के कारण ही आत्म प्रकाश प्रतिबिबित नही हो पाता है। जिस प्रकार विद्युत् प्रकाश यद्यपि अन्दर से प्रकाशमय रहता है किन्तु यदि बल्प के ऊपर घूलि हो तो अन्दर का प्रकाश भी मन्द दिखता है। ठीक उसी प्रकार आत्म-प्रकाश एव आनन्दादि गुणोवाला होकर हमे उसके आनन्द और स्वच्छ प्रकाश का आनन्द नही हो रहा है। इसका एक मात्र कारण है कि ये उदाधियाँ मैलेपन से परिलित्य है। अत आत्म-प्रकाश के दर्शन के लिए इससे पूर्व निर्दिष्ट साधनाओ के द्वारा देहेंद्रियो को निर्मल बना लेना चाहिए।

ऊपर हमने भलीभाति देख लिया कि बुद्धि आत्मा के समीप रहनेवाली है। इसी कारण सुख का निर्वचन करते हुए भगवान बताते हैं "सुखमात्मतिकयत्तद् बुद्धि ग्राह्यमतीद्रियम्"

इस प्रमाण के अनुसार देखेगे "यत् आत्यतिकसुखमस्ति त्तदबुद्धिग्राह्यमस्ति"। मनुष्य क्षणिक सुख नही चाहता है। प्रत्युत आत्यतिक सुख चाहता है। अत भगवान कहते है कि इस तरह का आत्यतिक अर्थात् शाश्वत सुख इंद्रियो से पाया नही जाता है। केवल सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही पाया जाता है। स्वच्छ एवं पवित्र बुद्धि को ही बह प्राप्य है। इस उपदेश से उस सत्य का पता लगता है कि इंद्रियों से सच्चे सुख का अनुभव ही नही होता। अत. हमें जानना है कि हमको पंच तन्मात्राओ से जो विषय सुख प्राप्त होता है वह केवल सुखाभास मात्र है, वह वास्तविक सुख नही है। सच्चा सुख बुद्धि के निकट ही उसके स्वच्छ न होने के कारण लुप्त हो गया है। बुद्धि को यदि हम निर्मल बना ले तोआत्म-सुखानुभूति होती है। जलाशय मे रहनेवाला जल निर्मल ही हैं, परन्तु हमारे मकान मे रहनेवाला नल मिट्टी के तेल के मपर्क मे आने के कारण पानी को दुर्गंधित कर देताहै। इसी-लिए वुद्धि रूपी साधन को शुद्ध बना लेना हमारा प्रथमकर्तव्य है।

वुद्धि के दूषित होने का प्रधान कारण अहकार है। यह वुद्धि से भी कई गुना बलवान दीखता है। इसका अस्तित्व वहुत ही गुप्त रहता है। केवल आत्म विमर्शन तथा आत्मावलोकन से ही इसे निष्कासित किया जा सकता है। सत्यान्वेपी साधक ही इस दिशा मे प्रयत्नशील रहते है। एक मात्र इस अहकार को पूर्णतया विनष्ट करने से मोक्षावस्था प्राप्त हो सकती है। महा-त्माओ की ऐसी मान्यता है। अहकार के निरसन का फल अनन्त है। इस सम्वन्ध से एक उदाहरण स्मरण मे आ रहा है—

आन्ध्र प्रदेश मे कृष्णदेव राजा राज करते थे। एक बार उन्होने अपने दर्बारी पडितो से एक प्रश्न पूछा—"मुक्ति केवड्ु पोवच्चुनु ?" अर्थात् मुक्ति स्थान को कौन जा सकता है ? दरबार मे उस समय बहुत से पडित श्रुति, स्मृति आदि के प्रमाण बताने लगे। उसी क्षण श्रोताओ में से एक सामान्य व्यक्ति ने उठ कर महाराजा से उत्तर देने की आज्ञा चाही। तुरन्त आज्ञा पाकर उसने कहा। "नेनु पोते पोवच्चुनु" इस कथन मे श्लेष है। अर्थ है मैं गया तो जा सकता हूँ। और दूसरा अर्थ है मैं पन अर्थात् अहंकार गया तो सभी जा सकते हैं। समान्य रूप से पूर्वोक्त अर्थ ही भासित होता है। इससे पडित लोग असमजस मे पड गये। परन्तु जब उसने उत्तरोक्त अर्थ बताया तो उसे सुन कर सभी लोग आश्चर्य विमुग्ध हो गये। राजा तो आनन्द से फूला न समाया। मानव यदि मोक्षमार्ग का पथिक बनना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह पहले अहङ्कार से अपने को मुक्त कर ले। इस भाति अहंकार से मुक्त होते ही मुक्ति करतलामलकवत् एक सहज सुलभ वस्तु हो जाएगी।

दशोपनिषदो मे तैनिरीयोपनिषद उत्तम माना जाता है। इसमे बुद्धि (विज्ञानमय-आत्मा) को पक्षी के आकार का बतलाकर इसके विविध अगो का निम्नलिखित रूप से वर्णन किया गया है —"श्रद्धैवतस्य शिर। ऋतदक्षिण.पक्ष। सत्यमुत्तर: पक्ष। योग आत्मा। ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा।" (ब्रह्मानन्दवल्ली: चतुर्थ अनुवाक)—अर्थात् उस बुद्धि—(विज्ञानमय आत्मा) रूपी

पक्षी का श्रद्धा ही सिर है, ऋत दक्षिण पक्ष है, सत्य उत्तर पक्ष है, योग आत्मा (मध्यभाग) है और ब्रह्म पुच्छ अर्थात् आधार है। इस पर किञ्चित् ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम बुद्धि को स्वप्रयास से अधिगत करना चाहते है तो हमें किन किन बातो पर ध्यान देने की आवश्यकता है। उपर्युक्त उपनिषद् के अनुसार बुद्धि के अग श्रद्धा, ऋत, सत्य, योगादि है। उन्नत जीवन के लिए विकसित बुद्धि की कितनी आवश्यकता है, यह एक सर्वविदित तथ्य है। यहाँ बुद्धि के आर्जन हेतु जिन गुणो का उल्लेख उनपर किया गया है उनके सम्बन्ध मे कुछ अधिक विस्तार पूर्वक विचार कर लेना असगत न होगा।

श्रद्धा बुद्धिरूपी पक्षी का सिरस्थानी होने से यह ऋत, सत्य आदि बुद्धि के अन्य अगो की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। अत: प्रथमत: श्रद्धा के सम्बन्ध में विचार कर लेना ही अधिक उपयुक्त होगा। श्रद्धा से कार्य मे तत्परता बढ जाती है। इस श्रद्धा के कारण ही हम अपने कार्यों मे सफलता प्राप्त कर सकते है। कार्य कितना भी छोटा क्यों न हो, किन्तु यदि हमारी श्रद्धा न हो तो हमें सफलता प्राप्त नही हो सकती। कुछ लोग मस्तिष्क को कार्य-सिद्धि मे प्रधान मानते है। किन्तु हम इस विषय की अधिक गहराई मे जावे तो ज्ञात होगा कि वस्तुत. बात ऐसी नही है, क्योकि श्रद्धा के अभाव मे मस्तिष्क निरर्थक ही है।

एक बार राजा विक्रमादित्य की सभा मे यही चर्चा चल रही थी कि मस्तिष्क और श्रद्धा मे कौन श्रेष्ठ है ? कुछ लोग

मस्तिष्क को श्रेष्ठ बतलाने लगे तो कुछ श्रद्धा को उत्तम मानने लगे। देर तक इस विषय की चर्चा चलती रही। अन्त में एक विद्वान ने फैसला सुनाया .—

"आस्या स्वास्था यदि स्याता मेधया किं प्रयोजनम्
आस्था स्वास्था यदा न स्यात् मेधया किं प्रयोजनम्"

आस्था शब्द का अर्थ है आसक्ति और स्वास्था का अर्थ है स्थिरता और इन दोनो का सयुक्त रूप है श्रद्धा। इस भाति सारे श्लोक का भाव है कि यदि श्रद्धा है तो मेधा की भी आवश्यकता नही है और श्रद्धा के अभाव मे मेधा से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नही होता। तात्पर्य है कि दोनो अवस्थाओ मे श्रद्धा ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुई।

किं बहुना, मेधा के न रहने पर भी यदि श्रद्धा तीव्र है तो कार्य मे, देर या सबर, सिद्धि की उपलब्धि अवश्यमेव होती है। इसके विपरीत श्रद्धा रहित अवस्था मे मेधा के वर्तमान रहने पर भी वह उपादेय नही हो सकती। उदाहरणार्थ एक बालक है। वह बडा मेधावी है। उसकी बुद्धि कुशाग्र है। परन्तु यदि उसमे श्रद्धा नही है तो किसी भी कार्य मे उसकी लगन नही हो सकती। अत ऐसी स्थिति मे वह अपने ध्येय मे क्योकर सफल मनोरथ हो सकेगा ? ऐसी दशा मे उसका सपूर्ण चातुर्य और सारी मेधा-शक्ति व्यर्थ ही सिद्ध होगे। इससे यह स्पष्ट है कि जीवन की सफलता के लिए श्रद्धा की अपरिहार्य आवश्यकता है। इसलिए गीता मे कहा गया है "श्रद्धावान् लभते ज्ञान" (4–39) अर्थात्

श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। भगवान ने गीता में अन्यत्र कहा है :—

"श्रद्धामयोऽयंपुरुषो यो यच्छ्रद्ध. स एव स" (17-3)

अर्थात् यह पुरुष (जीव) श्रद्धामय है और जिस पुरुष की जैसी श्रद्धा होती है उस श्रद्धा के अनुरूप ही वह पुरुष (जीव) होता है।

इतना ही नही श्रद्धा सपन्न पुरुष की भगवद् गीता में अनेक स्थलो पर प्रशसा की गयी है। उदाहरणार्थ देखे :—

"श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यते तेऽपि कर्मभि" (3-31)
"श्रद्धावान् भजते थोमां समे यत्कतमोमतः" (6-47)
"श्रद्धा विरहितं यज्ञ तामस परिक्षते" (17-13)

इन कुद्धरणो का क्रमश. अर्थ है कि 'श्रद्धावान् असूया रहित व्यक्ति सर्व प्रकार के कर्मजाल से मुक्ति लाभ करता है।' श्रद्धा युक्त ही मेरी आराधना करता है, वह मेरे विचार से सब से श्रेष्ठ योगी है। 'श्रद्धा विहीन अनुष्ठित यज्ञ तामसिक यज्ञ कहलाता हैं। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्थान-स्थान पर श्रद्धा की भूरि-भूरि प्रशंशा की है। यह श्रद्धा और भक्ति चाहे गुरू के प्रति हो, योग के प्रति हो अथवा विद्यार्जन के प्रति हो, मानव कें लिए सफलता का कारण बनती है। जहाँ श्रद्धा का वास है वहाँ सशय के लिए कोई स्थान ही नही है और जिस ज्ञान का आर्जन सशयरहितरूप मे किया जाता है, वह निश्चय

ही ससार सागर का तारक बनता है । श्रद्धा का अभाव ही सशय का जनक होता है ।

ऋतु और सत्य के बारे मे जिज्ञासा कर लेंगे । ऋतु का अर्थ ऋजुता है । त्रिकरण की एकता ही ऋजुता कहलाती है मन, वाणी और शरीर ये त्रिकरण है । मानो जात सकल्प, मुखसे नि सृत वाणी और शरीर कृत कर्म, इन तीनो मे भिन्नता नही होनी चाहिए । इसी को त्रिकरण शुद्धि कहते है । इस प्रकार की शुद्धि तथा पवित्रता को प्राप्त करानेवाली वस्तु है ऋजुता। यदि जीवन-स्तर को उन्नत एव श्रेष्ट बनाना होतो ऋजुता की प्राप्ति एक अपरिहार्य कर्तव्य है । बहुत से लोगो का तो यह विचार है कि यदि इस भाति जीवन-यापन करने लगे तो निर्वाह होना ही दुष्कर है, किन्तु बात ऐसी नही है । महापुरुषो की जीवन गाथाओ के परिशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि वे जब इस ऋजु मार्ग पर चलने लगे तो भले ही उन्हे प्रारभ मे किंचित कठिनाई का सामना करना पडा हो किन्तु कालान्तर मे वही कण्टकाकीर्ण पथ उनके लिए पुष्प-बिखरित राजपथ बनगया । यह ऋजुता महात्मा गाधीजी की जीवनी मे तप्त स्वर्ण के समान शुद्ध एव निमल होकर निखरी थी । यही कारण है कि उनमे इतनी अपरिमित शक्ति थी कि उनके ओष्ठ हिले तो ससार हिलने लगा । इस अनुपम गुण की प्राप्ति से हृदय पवित्र और मस्तिष्क परिपक्व बनता है । बहुत से लोग ऐसे हैं जिनकी कथनी (वाणी) और करनी में मेल नही रहता । कहना एक, करना एक यह दुरात्मा का लक्षण है ।

महात्मा और दुरात्मा का अन्तर किसी विद्वान कवि ने बडे ही सुन्दर रुप से प्रस्तुत किया है :-

"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येक महात्मन
मनस्यन्य वचस्यन्यं कर्मन्ययं दुरात्मन"

इससे यह स्पष्ट व्यजित होता है कि मन, वचन और कर्म इन तीनो में साम्यता रखनेवाले ही महात्मा होते है। इसके विपरीत आचरण रखनेवाले अर्थात् इन तीनो मे भिन्नता रखकर कपटी चाल चलनेवाले दुरात्मा कहलाते है। अपने जीवन को पवित्र बनाने की जिनके हृदय में उत्कट कामना हो, उन्हे चाहिए कि ऋजूता प्रात्प करने के लिए पूर्ण प्रयास करे। इस गुण के अर्जन में लोभ बडा ही बाधक होता है। अत. लोभ-सर्प से आहत बुद्धिवाले इद्रिय-विषयों से सयुक्त तथा भोगपरायण व्यकियो के लिए यह गुण प्राय दुर्लभ ही है। वास्तव मे तो अध्यात्म मार्ग मे तपृर पुरुष ही इसके अधिकारी होते है। यदि हम अपने जीवन का सूक्ष्म अतरावलोकन करे तो हमें ज्ञात हो सकता है कि इस श्लाघनीय गुण का आर्जन कितना कष्ट साध्य है और उसके अधिगत कर लेने मे कितनी दिव्यता है।

तथाकथित श्रेष्ट लोगों मे भी प्राय यह देखा जाता है कि उनकी वाणी और कर्म में तो साम्यता होती है। किन्तु इनके साथ उनके मन की साम्यता नही होती। इसका एक मात्र कारण यही हो सकता कि वाणी और कर्म स्थूल है, अत इन्हे दूसरे अन्य सभी व्यक्ति देख, सुन और जान सकते हैं।

इस कारण इन दोनो की साम्यता बनाये रखने का पूर्ण प्रयास करते हैं। परन्तु मन और सकल्प को देखने या सुननेवाला कोई दूसरा व्यक्ति नही क्योकि प्रच्छन्न रूप मे रहने के कारण इन्हे गुप्त रखा जा सकता है। त्रिकरण शुद्धिमन के साथ मेल नही खाती है और यही कारण है कि तथाकथित श्रेष्ट पुरुष भी त्रिकरण शुद्धि की परीक्षा मे सफल नही हो पाते हैं। पर सामन्य साधनो के हित मे तो यही है कि वे इसके लिए निरन्तर प्रयन्तशील बने रहे।

अब प्रश्न होना है कि सत्य क्या वस्तु होता है? ऋत आचरण की वस्तु है एव सत्य है उसका सैद्धातिक पक्ष। ऋत एव सत्य मे मात्र इतना ही अन्तर है। सत्य पारमार्थिक एवं परहित होना चाहिए। यह प्राय सभी जानते हैं कि सत्य की महिमा अवर्णनीय है। सत्य और ऋत दोनो साथ साथ रहनेवाली वस्तुएँ हैं। एक के सपादन से दूसरा गुण स्वत सुलभ होता है। भोजन करते समय अन्न को ब्रह्म के समान मानकर पवित्रभाव से उस पर प्रोक्षण करते हुए कहना चाहिए कि "सत्यत्वर्तेन परिषिचामि, ऋततु सत्येन परिषिचामि" ऋत और सत्य से अन्नपर प्रोक्षण करने से वह अन्न पवित्र बन जाता है और मत्र से परिपूत अन्न के सेवन से अन्त.करण मे उपर्युक्त दिव्य गुणो का आवास होता है। भोजन करते समय निम्नलिखित मत्रो का भी सश्रद्धा पाठ करना चाहिए -

"अन्नं ब्रह्मा रसोविषणु र्भोत्कादेवो महेश्वरः
एव ध्यात्वा व्दिजो भुत्कवा अन्न दोषो न विद्यते,

अहंवैश्वानरोभूत्वाप्राणिनादेहमाश्रित
प्राणापानसमायुक्तोपचाम्यन्नंचतुर्विधम् (गीता 15-14)
ब्रह्मार्पणंब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौब्रह्मणाहुतम्
ब्रह्मैवतेनगतव्यं ब्रह्मकर्म समाधिान" (गीता 4-24)

हम गृहस्थ हो अथवा सन्यासी, हमे प्राय. कभी-कभी अपने घर से बाहर भोजन ग्रहण करना पडता है और उस समय हम यह नही जान पाते है कि भोजन पवित्र आर्जन का है अथवा नही। हम यह भी नही जान सकते कि भोजन देनेवाले की मानसिक वृत्ति कैसी थी। ऐसी स्थिति मे भोजन के अपवित्र होने की बहुत कुछ सभावना रहती है। इन मत्रों का उच्चारण भोजन को सात्विक रूप दे डालता है जिसके सुपरिणाम स्वरूप हमारा शरीर तथा अन्त करण उत्तम सस्कारों से निर्मित होता है जो परम लाभदायक है।

तथ्य की बात तो यह है कि हम जो भी अन्न खाते है उसके स्थूलाश से हमारे स्थूल शरीर का और उसके सूक्ष्माश से हमारा मन या अतःकरण का निर्माण होता है। यदि देह, इद्रियां, मन आदि को शुद्ध बनाये रखना अभीष्ट है तो इस तरह की साधना को श्रद्धा तथा आदर के साथ अगीकार करना चाहिए। ऋत और सत्य को अपने मे विकसित करने का यह एक निश्चित मार्ग है।

इससे पूर्व हम कह चुके है कि योग इस बुद्धि रूप पक्षी के शरीर का मध्यभाग है। योग की महिमा किसी मे छिप नही है। योग चाहे भक्तियोग हो, कर्मयोग हो अथवा ज्ञानयोग

वह बुद्धि के विकास का एक अमोघ साधन है। योग के अन्तर्गत ही अष्टाग योग भी आता है। मनुष्य की आत्मोन्नति के लिए योग नितात आवश्यक है। योग से मनुष्य समता की सिद्धि पर पहुँ-चता है। गीता का उपदेश है "समत्व योग उच्यते" (2-48) समता से ही सच्ची शाँति प्राप्त होती है। उपर्युक्त रूपक मे बुद्धि रूपी पक्षी के अग श्रद्धा, ऋत, सत्य और योग बतलाये गये हैं। इन सभी गुणो को प्रयत्न पूर्वक आर्जन कर लेने से बुद्धि विकसित होती है और बुद्धि के विकास के साथ ही साथ विवेक भी जाग्रत होता है। विवेक के प्रभाव से अहकार, ममकार आदि माया के गुणो से मनुष्य अवश्य मुक्त हो जाता है। जिन व्यक्तियो मे बुद्धि एव विवेक पर्याप्त मात्रा मे उन्नत होते है। उनका जीवन व्यवहार उच्च कोटि का होता है।

इस सम्बन्ध मे एक छोटी सी आख्यायिका है। जगदगुरु शकराचार्य को अद्वैत मत के प्रचारार्थ अपने दिग्विजय की यात्रा काल मे उस समय के माने हुए प्रकाड विद्वान मडनमिश्र से शास्त्रार्थ मे चर्चा हुई। शर्त थी जो भी व्यक्ति पराजित होगा वह विजेता पुरुष का शिष्य बन जायेगा और उसके सिद्धान्तो को मानेगा। उन दोनो का शास्त्रार्थ सुनकर निर्णय देना किसी सामान्य बुद्धिवाले व्यक्ति का काम न था। भगवत्पाद शकराचार्य मडनमिश्र की पत्नी भारतीदेवी की बुद्धि-प्रखरता से परिचित थे। अत, उन्होने भारतीदेवी से ही निर्णायक बनने का प्रस्ताव किया। इससे ज्ञात होता है कि शकरजी कितने ऋजु प्रबर्तक थे। अपने प्रतिवादी की पत्नी को हार जीत का निर्णय देने के लिए स्वय कहना कितने साहस

कार्य है और आचार्य शंकर ही क्या इस दृष्टि से देखा जाय तो मडन मिश्र और उनकी पत्नी भारती देवी का भी ऋजु प्रवर्तन कितनी उच्चकोटी का था !! वर्तमान युग में तो ऋजुता की कल्पना भी नही की जा सकती अन्त मे भारती देवी ने अपना गभीर निर्णय सुनाया कि मडनमिश्र की पराजय हुई। पूर्व प्रतिक्षा के अनुसार मडन मिश्र ने श्री शकरजी का शिष्यत्व स्वीकार कर सन्यासाश्रम मे प्रवेश किया। भारतीदेवी ने भी पती का अनुसरण किया और दोनो ने अद्वैतमत के प्रचार मे अपना शेष जीवन लगा दिया।

एक दिन की बात है कि गोधूली वेला में भारती देवी अपनी शिष्याओं के साथ नदी के मध्य में स्थित एक मदिर मे जा रही थी। मार्ग मे उन्होने देखा कि एक सन्यासी अपने भिक्षा-पात्र को सिर के निचे रखकर बालू के टीले पर लेटा हुआ था। इस सन्यासी का नाम था सर्वसग परित्यागी। पर नाम के अनुसार उस में भावना न थी। उसकी ओर संकेत कर भारती देवी अपनी शिष्याओ से कहने लगी 'देखो, उस सन्यासी को, उसका नाम तो है सर्वसग परित्यागी। किन्तु नाम वडा दर्शन थोडा। कद्दू के टुकढे पर जो उसका भिक्षा पात्र है - उसकी कितनी ममता है! उसे अपने सिर के निचे रखकर सो रहा है। उस को भय है कि कही इसे इधर उधर रखने से कदा चित् कोई उसे उठा न ले जाय। जिसे किसी भी वस्तु पर मोह, ममता है वह भला क्योकर सर्वसग परित्यागी वन सकता है'' । साधू उनकी वातो को सुन रह था। उसके अन्दर से ज्वालामुखी का सा उद्वेग फूट पडा। वह मन ही

मन कहने लगा कि अभी मैं इसे अपनी त्याग भावना का परिचय देता हूँ। जव भारती देवी मंदिर से लौट रही थी उस समय उसने कद्दू से वने अपने भिक्षापात्र को उनके मार्ग में फेंक दिया। भारतीदेवी ने देखा और हँसकर अपनी शिष्याओ से बोली "देखो ?, जाते समय हमने इस सन्यासी के सम्वन्ध में जो वाते कहीं उससे इसमे इतना अहकार जाग पडा कि आवेग आकर अपने शिक्षापात्र को इसने एक दम फेंक दिया। भला, इस तरह का व्यक्ति भी क्या कभी सन्यासी हो सकता है"। अव उस साधू का दिमाग चकराने लगा। वह उलझन मे पड गया। शिर के नीचे रखलिया तो आक्षेप और फेंक दिया तो भी आक्षेप। यह क्या है, अब उससे रहा नही गया। भारतीदेवी तो साक्षात् भारती का अवतार मानी जाती थी। अत. उनसे वादविवाद करने का उसे साहस नही हुआ। वह झट उठकर भारतीदेवी के पैरों पर गिर पडा और पूछा "देवी, मैं क्या करूँ ? किस तरह रहूँ ? जब तक आप मुझे मार्ग दर्शन नहीं करेंगी, तव तक मैं आपके पैर नही छोडूंगा।" तव भारतीदेवी ने वात्सल्यपूर्वक कहा "देखो, अपने भिक्षा पात्र पर ममता भी न रखो और मेरे कथन पर अपने पास अहकार भी न आने दो।" इस भांति उस पर अनुग्रह कर और उसे उपदेश दे वे वहाँ से चली गयी। विकसित बद्धिवालो का जीवन विधान इस प्रकार होता है।

त्रिगुणात्मक सृष्टि

अव तक हमने जीव की देह, इद्रियाँ, मन और बुद्धि-रूप उपाधियों के स्वरूप तथा उन्हे अपने वश मे करने के उपायो के विपय मे यथासभव विचार किया है। इन सारी उपाधियो का समुच्चय रूप "क्षेत्र" कहलाता है। ये उपाधियाँ सब जड पदार्थ है। इन सब जड वस्तुओ को चेतनता प्रदान कर प्रकाशित करने-वाला आत्मदेव है जिसका नाम भगवद्गीता ने क्षेत्रज्ञ रखा है। 'क्षेत्रज्ञ' शब्द का अर्थ है 'क्षेत्र' को जानने वाला। क्षेत्रज्ञ ही क्षेत्र का आधार है। क्षेत्र तो आधेय के रूप मे विद्यमान है। विश्व मे जितने नाम और रूप दीखते है वे सब इन दोनो (क्षेत्र-और क्षेत्रज्ञ) के सयोग से ही बने है। गीता माता कहती है:—

"यावत्संजायते किंचित् सत्व स्थावर जंगमम्
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ" (13–26)

श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। अतः उसकी व्याख्या मे न जाकर यह देखने का प्रयास करेंगे कि इन दोनो के सयोग से सृष्टि का उद्भव किस प्रकार हुआ।

प्रथमत आत्मा से पचभूतो की उत्पत्ति हुई। उपनिषद में इस सृष्टि रचना का विवरण इस प्रकार दिया गया है —

"आत्मन आकशस्सभूत आकाशाद्वायु।
वयोरग्नि। अग्नेराप। अद्भ्य
पृथिवी। (तैत्तिरीय उपनिषद, ब्रह्मानन्दवली —2–1)

आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। उस आकाश से वायु का, वायु से अग्नि का, अग्नि से जलका, और अन्त मे जल से भूमि का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार पचभूतो की रचना के पश्चात् सत्व, रज और तमोगुणो की सृष्टि प्रारभ हुई। इन गुणो के सपर्क से सृष्टि का जो क्रम हुआ, वह निम्न प्रकार है।

सत्व गुण सृष्टि — सत्वगुण से पचभूतो का सपर्क होने पर श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एव घ्राण की उत्पत्ति हुई। ये सब एक एक भूत की व्यस्टि सृष्टि है। सत्वगुण से पचभूतो की समष्टि सृष्टि अत करण है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि शरीर पर दीखनेवाले गोलक वास्तविक इद्रियाँ नही हैं। इद्रियाँ सूक्ष्म-शरीर मे और गोलक स्थूल शरीर पर होते हैं। यदि सूक्ष्मशरीर में इद्रियाँ न हो और स्थूल शरीर पर दृष्टिगोचर होनेवाले उनके गोलक रहे तो उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होगा।

आकाश के व्यष्टि सत्वांश से श्रोत्र (कान्त) उत्पन्न हुआ। अत वह केवल आकाश के गुण शब्द को ही ग्रहण करता है। वह रूप को नही देख सकता। वायु के व्यष्टि सत्वाश से त्वक् का जन्म हुआ। वह केवल वायु के गुण स्पर्श का ज्ञान कर सकता है। अग्नि के व्यष्टि सत्वास से चक्षु निर्मित हुआ तथा वह अग्नि के गुण रूप को ही ग्रहण कर सकता है। जल के व्यष्टि सत्वाश से रसना उत्पन्न हुई और वह जल के गुण स्वाद् मात्र को जान सकती है। इसी तरह भूमि के व्यष्टि सत्वाश से घ्राण (नाक) की रचना हुई एव वह भूमि के गुण गन्ध को जानती है। ये सब सत्व गुण के व्यष्टि अश है, अत. वे केवल अपने अपने ही गुण ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत अन्त.करण पंचभूतो की समष्टि सृष्टि है। अतएव वह पाचो विषयो को एक साथ ग्रहण कर सकता है।

रजोगुण सृष्टि:—रजोगुण के समष्टि अश से प्राण और व्यष्टि अश से पाँच कर्मेद्रियाँ वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), उपस्था (जनन स्थान), और गुदा उत्पन्न हुए। ये सब क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि जल तथा भूमि के साथ रजोगुण के सपर्क होने से सभूत हुए है। उपरोक्त पाँच ज्ञानेद्रियाँ, पाँच कर्मेद्रियाँ पाँच प्राण, मन एव बुद्धि मिलकर सूक्ष्म शरीर बन गया। अब यह द्रष्टव्य है कि ये इद्रियाँ किस प्रकार अपना-अपना व्यवहार करती हैं।

आकाश का सत्वाश श्रोत्र और रजोगुणाश वाक् है। दोनों आकाश से उत्पन्न हुए हैं। दूसरे शब्दो मे आकाश के दो पुत्र

है—कान और वाणी। वडा पुत्र श्रोत्र है और छोटा पुत्र वाणी। वडा पुत्र शब्द को सुनकर उसे अन्दर लेता है तो छोटा पुत्र उसे बाहर कर देता है। इसी तरह वायु के भी दो पुत्र हुए जिनमे त्वगिंद्रिय स्पर्श का ज्ञान ग्रहण करता है और हाथ उसे बाहर कर देता है। उदाहरण के लिए पीठ पर एक चीटी रेगने लगी तो त्वक् ने उसे ग्रहण किया तथा हाथ ने जाकर उसे घर्षण करके दूर किया। अग्नि जनित दो पुत्र आख और पैर है। आँख रूप को देखती है और पैर उसके पास पहुँचा देता है। जल जनित इद्रियाँ जीभ और जननेंद्रिय हैं। जीभ खाती है और वस्तु को आस्वादन कर उदर मे पहुँचा देती है तो जननेद्रिय उसके सार शुक्र को बाहर करती है। भूमि से उत्पन्न इद्रियाँ नासिका और गुदा है। नासिका श्वास को अन्दर लेती है तो गुदेद्रिय अपान वायु के रूप मे उसे वाहर करती है। ज्ञानेद्रियाँ विषयो के प्रवेश द्वार हैं तो कर्मेद्रियाँ बाहर करने के द्वार हैं। ये सभी इद्रियाँ अपने-अपने कार्यों के अतिरिक्त अन्य विषय जानते ही नही। यहाँ तक हमने सत्व तथा रजोगुण की सृष्टि का विचार किया। इसे ही सूक्ष्म शरीर कहते हैं। अब तमोगुण की मृष्टि का विचार करेगें जिससे स्थूल शरीर का निर्माण होता है।

तमोगुण सृष्टि—इस सृष्टि मे पच भूत परस्पर सम्मिश्रित होकर पचीकृत हो जाते हैं। प्रत्येक भूत ने अपने स्वत्व का आधा भाग रखकर शेष आधे भाग को अन्य चार भागो मे सम भाग बाट दिया। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लेंगे।

कल्पना कीजिए कि पाँच व्यक्ति एक स्थान पर बैठ गये। प्रत्येक के पास एक-एक रुपया था। उन्होंने अपने रुपये को खुले पैसो मे परिवर्तित किया सबने आधा-आधा रुपया अपने पास रख लिया और आध रुपये को अन्य चार व्यक्तियो में बराबर-बराबर बाट दिया। परिणाम मे अब पाँचो के पास एक-एक रुपया तो है, किन्तु वह खुले पैसो के रूप में हैं। पूर्व में उनके पास नोट के रूप में रुपये थे। अब खुले पैसो के रूप मे वे ही रुपये बदल गये। सत्व एव रजोगुण की सृष्टि के समय पच भूत अपंचीकृत थे वे ही अब तमोगुण की सृष्टि में पचीकृत हो गये।

इस तरह पचभूत पचीकृत होकर पच्चीस तत्व हुए। इसमे किस भूत से कौन-कौन तत्व हुए, यह जानना अप्रासगिक न होगा। आकाश से काम क्रोध, शोक, मोह एव भय हुए। वायु से हिलना चलना, दौडना हाथ पैर पसारना और उन्हे सकुचित करना आदि क्रियाँए उत्पन्न हुई। अग्नि से क्षुधा, तृष्णा प्यास), निद्रा, आलस्य (सुस्ती) और काति जनित हुए। जल से शुक्र, रत्क, मूत्र, लाला (थूक) और स्वेद (पसीना) निर्मित हुए। इसी तरह भूमि से अस्थि (हड्डियाँ), मास, चर्म, नाडी और रोम (बाल) उत्पन्न हुए। इस तरह तमोगुण सृष्टि सपन्न हुई और विश्व मे विविध प्रकार के नाम रूपात्मक वस्तुएँ प्रकट हुई। ये सब क्षेत्र का स्वरूप है। इस क्षेत्र के ही अवयव है देह, इद्रियाँ मन एव बुद्धि। अव महत्व का प्रश्न यह है कि इन सव वस्तुओ मे मैं कौन हूँ। मैं इनमे से एक भी नही हूँ। मैं इनसे सर्वथा भिन्न हूँ। क्योकि मैं इन सब को देखने वाला तथा इनके व्यापार को

आत्म स्वरूप

अब तक हमने जीव की यात्रा के जो साधन है उनके विषय मे यथावश्यक जानकारी प्राप्त कर ली है। हमने देखा कि देह रथ है, इद्रियाँ घोडे है, मन बागडोर है तथा बुद्धि सारथी है। इन उपाधियों के स्वरूप एवं उन्हें अपने अधीन कर लेने के उपायो के विषय मे भी हम विवरण पूर्वक विचार कर चुके हैं। ये सब उपाधियाँ अनात्म है। अब प्रश्न होता है कि आत्मा कौन है जो इस रथ पर बैठकर यात्रा कर रहा है? यहाँ हम इसके विपय मे चिंतन करेंगे।

संसार में यह एक वडी ही विचित्र बात है मनुष्य प्राय: सभी विषयो से अवगत है, परन्तु अपने स्वरूप के विपय में वह सर्वथा अनभिज्ञ है। अमेरिका की स्थिति कैसी है? लदन में क्या हो रहा है? चंद्रलोक में क्या है? आदि आदि बाते वह जानता है, पर अपनी वास्तविक स्थिति को वह नहीं जानता और

इस दिशा मे जानकारी प्राप्त करने की इच्छा भी बहुत कम ही लोग रखते हैं। आख को कोई नयी वस्तु दीखी नहीं कि वह उसके विषय मे जानने को व्यग्र हो उठता है, पर आत्मा के सम्बन्ध में, अपने सम्बन्ध में जानने की चेष्टा नही करता। यदि मनुष्य को यह ज्ञात नही होता कि वह कौन है और उसका अपना स्वरूप क्या है तो वह अपने जीवन के गन्तव्य स्थान का पथिक नही बन सकता। ऐसे व्यक्ति का जीवन अन्धे बैल के समान तथा पागल कुत्ते की भाति इस ससार मे दयनीय होता है।

किसी पथिक से यह प्रश्न करें कि भाई! आप कौन है? कहाँ जा रहे हैं? और यदि इसका उत्तर वह नही दे पाये तो लोग उसे पागल ही समझेंगे। ऐसे व्यक्ति को देखकर सब लोग हँस देंगे। इसी भाति मनुष्य जब अपने स्वरूप तथा जीवन के लक्ष्य के बारे मे अनभिज्ञ रहता है तो उसे उस पागल के समान ही मानना चाहिए। समाज मे तथाकथित उच्चकोटि के व्यक्ति भी अधिकाश इस प्रश्न में पागलो की श्रेणी मे ही भासित होते हैं। यदि हमे अपने को उन पागलो की श्रेणी मे मिलाना नही है तो अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेना हमारा प्राथमिक कर्तव्य है। इसके लिए अन्तर्मुखी हो विचार करना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ?' इस "मैं" को जानने के लिए गभीरतापूर्वक सतत प्रयत्न-शील रहना चाहिए। सत्सग मे जाकर तत्परता के साथ श्रवण करते रहना चाहिए। सज्जनो की सगति इसके लिए एक अचूक साधन है। सद्ग्रन्थो का अध्ययन भी नियमपूर्वक करते रहना चाहिए। प्रतिदिन श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना नितात

आवश्यक है। आइए, अब हम देखे कि यह क्या है जिसकी शास्त्रो में उतनी महिमा बताई गयी है कि इसको जान लेने पर ससार में अन्य कुछ ज्ञातव्य शेष नही रह जाता।

छान्दोग्योपनिषद मे एक आख्यान है कि श्वेतकेतु नामक पुत्र ने अपने पिता उद्दालक के भेजने पर बारह वर्ष तक गुरु के पास रहकर विद्यार्जन किया। अध्ययन समाप्त होने पर जब वह अपने पिता के पास वापस आया तो पिताजी ने उससे प्रश्न किया "चिरंजीविन्, तुम क्या क्या जानते हो ?" श्वेतकेतु ने बडे अहकार से उत्तर दिया "मैं सभी विद्याओं को जानता हूँ।" पिताजी ने फिर प्रश्न किया कि जिस एक विद्या को जानने से सबका ज्ञान हो जाता है—क्या तुम उसे जानते हो ? इस प्रश्न को सुनते ही श्वेतकेतु का अभिमान तिदीर्ण हो गया। उसने कहा "पिताजी, इस तरह के ज्ञान का नाम तक मैंने सुना नही।" पुत्र को समझाते हुए पिताजी ने आत्म विद्या का ज्ञान दिया, जिसे जान कर श्वेतकेतु परम शांति का अनुभव किया। अत यह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। यदि इस एक को छोडकर अन्य सारी विद्याये सीखी तो उनसे कोई लाभ नही।

सृष्टि मे दृष्टिगत होनेवाली वस्तुएँ अनन्त है, उनकी कोई गणना नही, परन्तु उनके आधार रूप मे रहने वाला चैतन्य तत्त्व या आत्मा एक ही है। नाम और रूप जितने भी है वे सब आधेय है तथा आत्मा के आश्रय मे विद्यमान या प्रकाशमान हैं। यह आत्मा दीखती नही, केवल नाम और रूप ही दीखते है। हमारा सारा व्यवहार भी इन नाम और रूपो को सत्य मानकर

चलना है, क्योकि आत्मा का द्योतन ही प्रापचिक लोगो को नही होता। ऐसा क्यो ? हमारे पास किसी वस्तु के अस्तित्व को पहचानने के लिए पाच इद्रियो के रूप मे पाच गुण है। वे पाच विषयो को अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को पहचानते हैं। ये विषय पच तन्मात्राएँ या पाच गुण भी कहे जाते हैं। आकाश का गुण शब्द है। हम पहले देख चुके हैं कि वायु आकाश से उत्पन्न हुआ है। अत वायु मे आकाश का गुण शब्द और अपना गुण स्पर्श दो होते हैं। अग्नि मे अपना गुण रूप और अपने पूर्ववर्ती तत्त्वो के गुण पाये जाते हैं। इस भाति उसमे कुल तीन गुण होते हैं। जलका गुण रस है और उसमे कुल मिलाकर चार गुण होते है। उसी तरह पृथ्वी मे अपने गुण गन्ध के साथ कुल पाच गुण विद्यमान हैं। जो भूत जितना ही अधिक स्थूल होता है उसमे उतने ही अधिक गुण पाये जाते हैं। भूमि सर्वाधिक स्थूल भूत है, अत. उसमे पाच गुण होते हैं।

इसको समझने के लिए एक उदाहरण लेगें। एक मेज पर हाथ से मारिए तो उसमे शब्द होगा। यह आकाश का गुण है। स्पर्श मे वह कठिन दीखता है, अत वह वायु का गुण है। आख को रूप दीखता है, यह अग्नि का गुण है। जीभ को लगायें तो उसका अपना स्वाद होता है। यह जल का गुण है। नाक से सूघने पर उसकी गन्ध का अनुभव होता है। इस तरह भूमि का अश होने के नाते टेबुल मे पाच गुण उपलब्ध हैं।

जैसे स्थूल भूतो मे गुणो की अधिकता होती है वैसे ही सूक्ष्म भूतो मे गुणो की कमी होती है। उदाहरण के लिए जल

पृथ्वी से सूक्ष्म होता है; अत. उसमें चार ही गुण होते हैं जब कि पृथ्वी के पाच गुण पाये जाते है। अग्नि जल से भी सूक्ष्म होने के कारण इसके तीन ही गुण होते है। इसी तरह आरोहण क्रम से आकाश तक पहुँचने पर उसका शब्द ही एक मात्र गुण पाया जाता है। एक गुण वाला होने के कारण वह अन्य सभी भूतो की अपेक्षा अति सूक्ष्म है। सूक्ष्मतम होने के कारण इसका विस्तार भी सर्वापेक्ष अधिक होता है। आकाश से भी ऊपर गये तो सभी गुण समाप्त हो गये। आत्मा निर्गुण है और उसका विस्तार भी अनन्त है। निर्गुणतत्व के अस्तित्व को जानने का हमारे पास कोई साधन नही है। इसी कारण भगवान के अस्तित्व में लोग प्राय. सन्देह करते है। इस रहस्य के अवगत होने पर हममे भगवान के अस्तित्व के प्रति प्रगाढ विश्वास उत्पत्न होता है और कहना न होगा कि यह दृढ विश्वास ही मानव जीवन की सफलता की कुजी है।

आत्मा सभी भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे एक है और उन सभी वस्तुओ का आधार रूप है। उसका एक भी गुण न होने के कारण वह दीखती नही है और सुनी नही जाती है। शक्ति के स्वरूप में वह गुप्त रहती है। एक बरगद के बीज को फोडकर देखे तो कुछ भी दीखता नही है। परन्तु विशाल वट वृक्ष की शक्ति उसके भीतर निहित है। उस शक्ति की कोई सीमा ही नही है, क्यो कि उस बीज से एक वृक्ष निकलने की सभावना है जिसके अनेक बीज और उन अनेक बीजो मे अनेक वृक्षो को उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान रहती है। यह शक्ति उसकी

व्यापकता की कोई सीमा नही। इससे हम एक तथ्य पर पहुँच सकते हैं कि जो वस्तु चक्षुगोचर होती है उसकी असली शक्ति गुप्त रूप मे रहती है।

स्थूल रूप मे हम अपने सामने ठहरे आदमी को देखते हैं। हम वास्तव मे क्या देखते है? उस मनुष्य का शरीर और उसका आकार मात्र देख पाते हैं। शरीर के भीतर वात करने की शक्ति जो उसका प्रेरणात्मक है वह मनुष्य है। उसको हम देख नहीं सकते। केवल आकार को देखकर उसी की सत्यता की भ्राति मे हम नित्यव्यवहार चला रहे हैं। सब से वडी विचित्रता यह है कि "सामने आये हुए आदमी का शरीर" जब इस तरह कहते हैं तो मनुष्य का शरीर मनुष्य से भिन्न सिद्ध हुआ। मेरा शरीर कहूँ तो मैं कैसे शरीर हो सकता हूँ? मेरी पुस्तक कहे तो मैं पुस्तक से भिन्न हूँ कि नही? यद्यपि हम इस तरह वोला करते है फिर भी वास्तविक तत्व के प्रति ध्यान नही देते। यही माया का प्रभाव है। इस चर्चा का यह निष्कर्ष है कि दीखने वाली वस्तु का आधार गुप्त रूप मे रहनेवाली चेतना होती है।

इस विषय के प्रति हमे और भी गभीर होकर चिंतन करना चाहिए। ससार की सभी जड वस्तुएँ विषम एव निम्मोन्नत वाली होती हैं, किन्तु उनके आधार रूप मे रहने वाली चेतना समता की होती है वह पूर्ण होती हैं। भगवद गीता में कहा गया है कि "निर्दोषहि सम ब्रह्म" ब्रह्म स्वरूप समरूप में रहने वाला है और उसमे किसी तरह की विषमता नही होती। इसे समझने के लिए एक उदाहरण.—

किसी चित्रकार ने एक कागज पर सुन्दर रूप में एक स्त्री का चित्र खीचा है। उसका सौन्दर्य अनुपम था। अत देखने वाले उस चित्र पर आकर्षित होते थे। स्त्री के स्तन, नाभी आदि निम्नोन्नत अग मनुष्य को मोहित करने में समर्थ थे। परन्तु कागज के पास जाकर उस पर हाथ फेरने लगा तो अगों की भिन्नता बिलकुल नही है और कागज सम रूप मे है। कागज अगोकी विषमता का आधार रहते हुए जैसे समरूप में विद्यमान है उसी तरह ब्रह्म भी सभी उच्च नीच प्राणियों में सर्वत्र सम है। इस तरह के सम तत्व को जानने की आंतरिक दृष्टि होनी चाहिए। केवल चक्षुरादि इंद्रिय दृष्टि बाह्य दृष्टि कहलाती है। बुद्धि की दृष्टि अथवा विवेक की दृष्टि आतरिक दृष्टि कहलाती है। बाह्य दृष्टि मोह कारक होती है और आतरिक दृष्टि मुक्ति कारक होती है।

फूल माला को लीजिए। माला तो बहुत सुन्दर रूप में दीखती है। उन फूलो के उस तरह टिकने का आधार-सूत्र होता है। इस मे फूल अनेक होते है और उनके अन्दर आधार रूप में रहने वाला सूत्र एक ही होता है। आधार रूपमें रहने वाले सूत्र को हम नही देख सकते। यदि सूत्र को देखना चाहते तो क्या करना चाहिए ? एक फूल को एक तरफ और दूसरे फूल को दूसरी तरफ सरकाना चाहिए। अर्थत् रूप और नाम को हटा कर ज्ञान नेत्र से गुप्त रहने वाले आत्म तत्व को देखना चाहिए। यह जीवन की सर्वोत्कृष्ट कला है। इससे नाम और रूप पर रहने वाला आकर्षण नष्ट हो जाता है। आत्मावलोकन की आसक्ति

अधिक होती है किसी ने क्या ही अच्छा कहा है कि " चर्म पर दृष्टि रखनेवाला चडाल होता है और आत्मा पर दृष्टि रखने वाला आर्य होता है।

हाँ! इस पर थोडा चिंतन करेंगे कि रूप और नाम को हटाकर आत्मदर्शन की प्रक्रिया किस तरह की होती है। इस प्रक्रिया का प्रथम सोपान पर हमे यह विचार करना चाहिए कि इन दोनों का आधार क्या है ? और उसका तत्व क्या है ? तब ज्ञात होगा कि जिस तरह भाति भाति के फूलो की माला का एक सूत्र आधार रूप मे रहता है, उसी तरह ससार के सभी वस्तु अर्थात् अणु, रेणु, तृण, काष्ठ, क्रिमि कीटक, पशु, पक्षि, नर आदियो मे आधार रूप में परब्रह्म का तत्व ही विद्यमान है। वह एक है। पूर्ण है। इस सारे विश्व का वहीं कारण है। भगवद्गीता मे भगवान कहते हैं "मत्तः सर्वंप्रवर्तते" "पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः" अर्थत् यह सब मुझसे ही उत्पन्न हो रहा है। मैं इस का पिता, माता, धारण करने वाला और पितामह हूँ। इस तरह यह भगवान के आश्रय में स्थित है।

उपनिषद का प्रमाण है "एकमेवाद्वितीयब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" इसका अर्थ है कि ब्रह्मस्वरूप के बिना कुछ भी नही है। नाम और रूप कार्य है। उनका कारण ब्रह्म है। इस तथ्य के कारण सत्य वस्तु के नाम रूप नही होते। और इन दोनो का कारण ब्रह्म ही है। इस विषय पर महात्मा लोग गभीरता से विवेचन कर के इस निषकर्ष पर पहुँचे कि यद्यपि नाम और रूप दीख रहे

है फिर भी ये मिथ्या हैं। उन्होंने फैसला सुनाया कि सृष्टि के आदि में परब्रह्म ही था और अन्त में वही शेष रहेगा। ये नाम और रूप ब्रह्म के आश्रय में प्रकाश पाकर बीच में आये और बीच मे चले गये। इस कारण इनकी सत्यता किसी भी रूप मे वास्तविक नही हो सकती।

मांडूक्योपनिषद की कारिकाएँ लिखने वाले गौडपादाचार्य थे। उन्होंने यह लिखा कि "आदावन्तेचयन्नास्तिवर्तमानेपि तत्तथा, वितथैस्सदृशास्संत: अवितथा इव लक्षिता.।" श्लोक का अर्थ है कि जो आदि और अन्त में नही है वह मध्यकाल में दीखते रहने पर भी मिथ्या है। दीखना एक अलग वस्तु है और वास्तव में रहना एक अलग वस्तु है। मृगतृष्णा में पानी दीखता है। स्वप्न मे कई वस्तुओं को देखते हैं। रज्जु में सर्प दीखता है। क्या इन सभी वस्तुओं का अस्तित्व माना जा सकता है? कदापि नही। ठीक उसी तरह नाम और रूप दीखने पर भी ये वास्तव में नहीं है। क्योंकि सृष्टि के आदि और अन्त में इनका अभाव है।

एक व्यक्ति ने बीस तोला सोना खरीदा। पहले उसे हार बना कर अपनी पत्नी के गले में डाल दिया। क्या वह हार है या सोना? हार केवल दीखता है और उसके अन्दर रहनेवाला केवल सोना है। उस व्यक्ति ने थोडे दिन के बाद हार को नष्ट कर दूसरा आभरण बनाया। इसी तरह अपनी इच्छा के अनु-सार उसे कई नामो मे परिवर्तित कर दिया और एक दिन उसे

सोना बनाकर बेच डाला। सोना के कई रूप-नाम हुए परन्तु आदि मे सोना था, मध्य मे भी सोना था और अन्त मे भी सोना ही था। इसलिए नाम और रूप दीखनें पर भी उनका अस्तित्व माना नही जाता। "वाचारभणविकारो नामधेय" ये नाम और रूप केवल वाचा का विकार है। जिस तरह आभरणो मे सोना के सिवाय अन्यवस्तु है ही नही उसी तरह ससार के सभी प्राणी और वस्तुओ मे केवल परमात्मा हीहै। उन्ही के आधार से सभी वस्तुएँ अस्ति, भाति और प्रीति के रूप मे भासित है। इस विचार से हम मे यह निश्चित भाव होना चाहिए कि नाम और रूप मिथ्या है और परब्रह्म ही सब कुछ है और सत्य है। "सर्वंखल्विद ब्रह्म" यह उक्ति इस विचार से समझ मे आ सकती है।

भागवत मे ब्रह्माजी नारद को उपदेश देते हुए कहते है —

"अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्
पश्चादह यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्"

अग्रे अर्थात् सृष्टि के आदि मे मैं ही था और सत् तथा असत का मैं ही आधार रूप था। सृष्टि का कार्यक्रम सब समाप्त होने पर मै ही शेष रहता हूँ। ये सब अनगिनत रूप और नाम भासमात्र है —यह श्लोक का अर्थ है। इस तरह निरतर चितन करना ही नाम रूप को हटाकर गुप्त रूप मे रहने वाली आधार आत्मा को पहचानने की कला है।

इस भाव को और स्थिर कर लेने के लिए यहां एक छोटी सी आख्यायिका का उद्धरण आवश्यक है। पूर्व काल मे एक

बारात ग्रामान्तर जा रही थी। रास्ते में शाम हुई और वर्षा भी होने लगी। इतने में बारात के सभी लोग एक सराय मे जा पहुँचे। उस सराय में चार साधू रहते थे। वे इन लोगो की तरफ जिज्ञासा की दृष्टि से देखने लगे।

वधू बडी सुन्दर थी। वर उसकी तरफ देख देखकर मन ही मन प्रसन्न हो रहा था। वधू की माता अपनी लडकी की तरफ वात्सल्य भरी दृष्टि से देखती थी। वधू का भाई अपनी बहिन को भाग्यवती समझते हुए उसकी तरफ प्रसन्नता की दृष्टि से देख रहा था। वधू की सहेलियाँ उसकी तरफ प्रेम भरी दृष्टि से देखती थी। कहने का तात्पर्य है कि सब लोग एक ही वधू को देख रहे थे। किन्तु कोई बेटी जैसी, कोई बहिन जैसी··· एक ही वधू को सब लोग भिन्न रूप भिन्न देखने लगे। वास्तव में वस्तु एक है तो लोग कई भावनाओं से उसको देखने लगते है।

एक साधु अन्य तीनों से कहने लगा "देखो! यह लडकी एक होने पर भी इसे सब लोग एक ही तरह नही देख रहे है। यथार्थ रूप मे विवेचन किया जाय तो इस लडकी के वास्तविक स्वरूप को कोई नही देख पा रहे है। सब लोगों की दृष्टि सही नहीं है। क्योंकि लडकी एक है तो सब लोग एक ही तरह नही देख रहे है। यह सब दृष्टि भेद का परिणाम है।"

दूसरा संन्यासी पूछने लगा कि "खैर! उनकी दृष्टि दोष-पूर्ण होने दो। यह कहो कि तुमको कैसी दीख रही है।" पहला सन्यासी जवाब देने लगा कि मुझे तो अस्थि, मास, रुधिर आदि

विकार वस्तुएँ दीख रही है। यह कथन कुछ हद तक सत्य ही दीखता है, क्योकि शरीर के ऊपर रहनेवाले चर्म को हटाकर देखे तो विकार एवं घृणास्पद वस्तुओ के सिवाय है क्या ? शरीर के सौन्दर्य का कारण चर्म ही है। दूसरा सन्यासी कहने लगा कि भाई ! "मुझे तो केवल अस्थिपंजर दीखता है। शरीर का आधार अस्थिपजर अर्थात् हड्डियो का ढाँचा ही होता है।" तीसरा सन्यासी विस्मित भाव से कहने लगा "अरेरे ! मुझे तो केवल पचभूत दीख रहे हैं। ससार में रहनेवाली सभी वस्तुएँ पचभूतो के विविध परिणाम का मिश्रण रूप ही है।" यह सब सुनकर चौथा संन्यासी कहने लगा "मुझे आप लोगों की बाते अजीब मालूम पड रही है, क्योकि वस्तुओ का आधार आत्मा है और वही मुझे पूर्णरूप में भासित हो रही है। मुझे लडकी दीख ही नही रही है। केवल आत्मा ही दीख रही है। यह दृष्टि कूटस्थ दृष्टि कहलाती है। यह दृष्टि विवेक से, वैराग्य से, चिन्तन से, सयमपूर्ण जीवन से प्राप्त होती है। इसके पश्चात् मनुष्य नाम-रूप के मोह से मुक्ति पाता है। यही वास्तव मे नाम-रूप को हटाकर आत्म तत्त्व को प्राप्त करने का उत्तम ज्ञान मार्ग है।

मिट्टी के स्वरूप को जानने से मिट्टी से तैयार होने वाली सभी वस्तुओ का परिचय होता है। सोने के तत्त्व को जानने से उससे बननेवाले सभी आभरणो का ज्ञान होता है। ठीक उसी तरह आत्मज्ञान को प्राप्त करने से संसार का रहस्य सामने खुल जाता है। इसी लिए इस एक को जाननें से सभी का ज्ञान

होता है। यह तो कठिन विद्या है। अतः इसे ब्रह्मविद्या कहते है। इस विवेचन से यह बात निश्चितरूप से समझ में आती है कि आत्मतत्त्व ही सर्वत्र, सर्वाधार रूप मे विद्यमान है। आधार वस्तु का ही हम अस्तित्व मानते है। वह पूर्ण है उसको छोडकर अन्य वस्तु है ही नही। यह है वास्तव में विश्वरूप का दर्शन।

जब पूर्णरूप में ब्रह्म ही है तो मैं इससे कैसे भिन्न रह सकता हूँ? "मैं" का जो अश है वह आत्मा का ही स्वरूप है। "अह ब्रह्मास्मि" का उपदेश इस स्तर से सार्थक होता है। आत्मा शब्द का अर्थ हिन्दी में "मैं" है। उसी तरह मैं शब्ह का अर्थ आत्मा है। इस भूमिका पर पहुँचने से भासित होता है कि यह सारी सृष्टि मुझसे भिन्न नही है। मैं सब में हूँ और मुझ में सब है। "सर्वभूतस्थ मात्मान सर्वभूतानि चात्मनि ईक्षतेयोग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन" श्लोक से पूर्व वाक्य ही इस श्लोक का अर्थ है। अब आत्मा के जो लक्षण होते हैं, वे मेरे भी होते है, क्योकि मैं आत्मा से अभिन्न हूँ। आत्मा के लक्षण सच्चिदानन्द सर्व व्यापक है। अत इन लक्षणो का अस्तित्व हम में किस तरह विद्यामान है—थोडा इसकी चर्चा भी कर लेगे।

ससार में मृत्यु किसी को भी पसन्द नही है। कुछ लोग मरण शब्द को सुनने के साथ ही कान बन्द कर लेते हैं। सब लोगों की यही इच्छा बनी रहती है कि मै मरूँ नही, अमर रहूँ और नित्य युवा बनकर रहूँ। इस तरह की इच्छा सब लोगो में बने रहने का कारण क्या है? क्योंकि मनुष्य कभी मरनेवाला

नहीं है। वह शाश्वत रहनेवाला है। इसी कारण मरण का नाम ही उसे पसन्द नही है। परन्तु कष्ट इस बात का होता है कि वह शरीर के साथ शाश्वत रहना चाहता है। शरीर जीर्ण-शीर्ण होनेवाला है। ऐसे कई शरीरो को मनुष्य छोड चुका है और आगे कइयो को वस्त्रो के समान छोडते रहेगा। अमरत्व शरीर का नही, आत्मा का है। बाजार से सुराही खरीदकर लाते हैं और उसमे पानी भर देते है। थोडी देर के बाद सुराही के ऊपर हाथ रखे तो ठडी मालूम पडती है। यह ठडकपन सुराही का नही। उसके अन्दर रहनेवाले पानी का है। उसी तरह शाश्वत तत्व शरीर का नही उसके अन्दर रहनेवाले शरीरी का है। अत देह तादात्म्यता छोडकर आत्मा से अभिन्न होना चाहिए। इसरूप मे मेरा स्वरूप सत् है। अत मैं सत् स्वरूप हूँ।

दूसरा स्वरूप चित् अर्थात् ज्ञानतत्व है। छुटपन से मनुष्य मे सब विषयो के बारे मे जानने का स्वभाव होता है। छोटे लडके को हाथ मे पकड कर ले जाओ तो वह प्रति वस्तु को देखते हुए उसके बारे मे जानने की कुतूहलता से प्रश्नो की झडी लगा देगा। क्यो ? क्योकि वह सब को जानना चाहता है। एक दिन उसे सर्वज्ञ होना है। उसे अज्ञान पसन्द नही है। बूढा आदमी जो न देख सकता और न सुन सकता, वह भी सब को जानने की व्यग्रता रखता है। घर मे यदि किसी विषय के बारे मे आलोचना होती है तो बार-बार पूछ कर उसका कारण जानना चाहता है। घर के लोग कहते हैं कि तुम चुप रहो। वक्त पर

खाना खाकर शांत रहो। इस झंझट से मुक्त रहो, किन्तु उस बूढे का दिल मानता नही, मचलता है।

मनुष्यो में नये-नये विषयो को जानने की कुतुहलता कहाँ तक है ? इसकी सीमा नही हो सकती। विज्ञान का जन्म दाता यही है। भूनभोतराल में कोई भी ऐसा विषय नही रहना चाहिए जो मैं नही जानता हूँ। यह व्यग्रता मनुष्य में क्यो ? इसलिए कि मैं चैतन्य स्वरूप हूँ और मैं सब की अभिज्ञता का लक्षण रखता हूँ। अनभिज्ञता या अज्ञान मेरे पसन्द की वस्तु नही है, ज्ञान ही मेरा स्वरूप होने के नाते मै जाग्रदवस्था में स्थूल शरीर के सब व्यवहारो को, स्वप्न में सूक्ष्म शरीर की चेष्टाओ को एव सृषुप्ति में कारण शरीर की स्थिति को जानने वाला हूँ। मेरा स्वरूप चित् है।

सदा आनन्द से रहना ही मुझे पसन्द है, क्योकि मेरा स्व रूप आनन्द है। दुख को मैं बिलकुल नही चाहता हूँ मेरे लिए दुख आगतुक है। वह मेरा स्वभाव नही है। कभी कोई आदमी दुखी होता है तो रास्ते पर जानेवाले लोगो को विचित्र सा दीखता है। अत. वे ठहर कर रोने का कारण पूछते हैं। ससार में कही विलक्षणता दीख पड़ती है तो लोग प्रश्न करने लगते है कि क्यो ? बहनेवाला पानी ठडा रहना उसका स्वभाव है। इसके विपरित कही गरम पानी बहता है तो विचित्रता होती है। एक कुत्ता कुत्ते के समान भूकता है तो विचित्र बात नही होती। यदि एक मनुष्य कुत्ते के समान भूंकता है तो भारी विचित्रता होती है उसे

लोग आश्चर्य से देखने लगते हैं। उसी तरह जब मनुष्य दुखी होता है तो लोगो को विचित्रता दीखती है और उसका कारण पूछते हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि मनुष्य आनन्द के साथ रहना, प्रसन्न रहना उसका सहज स्वभाव है। इसी कारण एक शात एव प्रसन्न रहनेवाले आदमी के पास जाकर यह प्रश्न नही करते "क्यो भाई ! आप क्यो नही रो रहे हैं ?" इस तरह प्रश्न करने की कल्पना तक नही होती। इस प्रमाण से स्पष्ट रूप मे सिद्ध होता है कि मेरा स्वरूप आनन्द है।

अब सर्व व्यापकता को लीजिए। किसी भी विषय का मनुष्य स्वय अनुभव करके चुप नही रह सकता। कोई अच्छी चीज मिली तो अकेला खाना उसको पसन्द नही है। दूसरे पाँच दस लोगो को भी खिलाना और अपने अनुभव व्यक्त करके उन्हे आनन्दित करना मनुष्य की सहज इच्छा होती है। परिवार के साथ रहना, समाज से अपने को अभिन्न पाना यह सब सर्व व्यापकता के लक्षण है। स्वय ब्रह्म ही "एकोह बहुस्याम्" का संकल्प करके अनेक रूपो मे व्यक्त हुए। इस सर्वव्यापकता की भावना हममे निहित पाते हैं।

उपरोक्त सच्चिदानन्द सर्वव्यापकता का अनुभव देहात्म भावना वाले व्यक्तियो को कभी होता नही। देह को आप समझनेवाले व्यक्ति देह की इच्छित वस्तु के भोग चाहते रहते हैं। देह के भोग मे कभी आनन्द की अनुभूति हो ही नही सकती। देह से अपने को विलग समझकर आत्म स्वरूप से तादात्म्य होने

से ही उपरोक्त सच्चिदानन्दादि गुणों की अनुभूति अपने वास्त-विक स्थिति में होती है।

इस लक्ष्य सिद्धि के लिए यदि गंभीर रूप में जिज्ञासा करें तो दो मार्ग साधन के अनुकूल दीखते हैं। ये दोनों भी विचार मार्ग हैं। मनुष्य को गभीरता के साथ समझना चाहिए कि देह मैं नही हूँ। जब देह ही मैं नही हूँ तो देह संबन्धी कामनाएँ मेरे लिए आवश्यक नही है। मैं उनको प्राप्त करने में अपना अमूल्य अवकाश नही खोऊँगा। मैं तो शिव स्वरूप हुँ। ("मनोबुद्धयहंकार चित्तानि नाह नश्रोत्रंनजिह्वा नचघ्राणनेत्रे नच व्योमभूमिर्नतेजो न वायुश्चिदानन्द रूपश्शिवोहशिवोहम्") मन, बुद्धयादि इद्रियों में मैं कोई नही हूं। पंच भूतो में मैं कोई नही हूँ इन सब से भिन्न चिदानन्द स्वरूप शिव हूँ। ("निषेधेकृतेनेति नेतीतिवाक्यैस्समाधिस्थितानांयथाभातिपूर्णं अवस्था त्रयातीतमद्वैत-मेकं चिदानन्दरूपश्शिवोह शिवोहम्") देहेद्रियादिको नेतिनेति वाक्य से निषेध करने पर जो शेष एव पूर्ण रहता है वह आत्म स्वरूप मैं हूँ। मैं तीनों अवस्थाओ से अतीत तुरीय स्वरूप हूँ। अद्वैत परब्रह्म हूँ। इस तरह की भावना करनी चाहिए। एकांत स्थान में बैठकर हार्दिक भक्ति से भग-वान एवं गुरु का स्मरण कर इसी का मनन और निधिध्यासन करना चाहिए। दीर्घाभ्यास हो तो इससे बहुत बडा लाभ होता है।

दूसरी विचार पद्धति की चर्चा कर लेंगे ससार की गति-विधि देखे तो हमे एक सत्य प्रत्यक्ष होता है। सभी चलन

वस्तुओ की गति का आधार निश्चल वस्तुएँ होती हैं। उदाहरण के लिए गाडी सडक पर जा रही है। गाडी चलनशील है। इसकी गति निश्चल सडक के आधाररूप मे रहने के कारण सफल हो रही है। उसी तरह सिनिमा को देखिए। चित्र चचल होते हैं और उनका आधार पट है, पर्दा है। पर्दा निश्चल रहने के कारण ही चित्रो का खेल चल रहा है। अब तक दृष्टात हुए और दार्ष्टान्त को लीजिए।

बाह्य दृष्टि के अवलोकन से जो वैज्ञानिक तथ्य हमे ज्ञात हुआ है उसके अनुसार आतरिक दृष्टि से देखे तो हमारी देह, इद्रियाँ, मन एव बुद्धि चचल स्वभाव की हैं। देह को साक्षात् हम देख रहे है वह चलनशील है। इद्रियाँ इससे बढकर चचल होती हैं। बरफी अभी अभी ताजा तैयार हुई है—इसे सुनने के साथ ही मुंह में पानी आने लगता है। भले ही वह वस्तु कही भी रहे। केवल नाम सुनने के साथ ही मुंह पानी बहाने लगा। मन के सम्बन्ध मे कुछ कहने की आवश्यकता नही है। वह तो एक ही बार दशो दिशाओ मे दौड लगाता है। बुद्धि भी चचल होती है। इनके आधार रूप मे किसी निश्चल वस्तु का रहना अनिवार्य है। यदि वह नही रहता तो इन उपाधियो का अस्तित्व ही सिद्ध हो सकता नही। उसी को आत्मा कहते हैं। आत्मा शब्द का अर्थ "मैं" है। मैं कौन हूं? इस रूप मे विचार करें तो देह मैं नही हूँ। इद्रियाँ मैं नही हूँ। मन मैं नही हूँ। बुद्धि मैं नही हूँ। इन सबको आश्रय देकर प्रकाशित करनेवाला मैं आत्मास्वरूप हूँ। मैं सच्चिदानन्द सर्वव्यापक स्वरूप हूँ।

इस तरह के चिंतन, मनन तथा ध्यान करते रहने से देहादिको से वास्तविक भिन्नता की अनुभूति प्राप्त हो सकती है। इस भाव की आदर पूर्वक उपासना करते रहनी चाहिए। शकरा--चार्य जी कहते है —

"स्वरूपानुसधान रूपां स्तुति य पठेदादराद्
भक्ति भावान्मनुष्यः शृणोतीहवानित्यमुद्युत्क चित्तो भवेद्विष्णु
रत्रैव वेदप्रमाणात्"

अर्थात् सदा स्वरूप के अनुसधान में आसक्ति रखनी चाहिए। उसकी प्रशंसा भक्तिपूर्वक करते रहनी चाहिए। जो इस तरह करते हुए पठन पाठन में लगा रहता है वह यही विष्णु बन जाता है। ऐंसा वेद प्रमाण है। इस तरह नर नारायण बन सकता है। मानव माधव बनता है, जन जनार्दन बनता है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर जीवयात्रा समाप्त हो जाती है। रथ में बैठकर यात्रा करनेवाले जीव को यदि अपना स्वरूप ज्ञात है तो उसकी सारी उपाधियाँ अर्थात् देह, इद्रियाँ, मन और बुद्धि उसके अनुकूल बनती है। इस तरह उपाधियो को शुद्ध कर लेना और अपने स्वरूप को जान लेना ही जीवयात्रा का चरम लक्ष्य है। इस स्थान पर पहुँचने के लिए ही अमूल्य मानव जन्म प्राप्त हुआ है। इस तरह जीवन कोसफल बनाने मे हम सब लोगो को प्रयत्न--शील रहना चाहिए।

" सर्वे जनास्सुखिनो भवन्तु "